# आधुनिक हिन्दी साहित्य

## विश्लेषण और प्रकर्ष

डॉ० सुरेन्द्र माथुर
डी०लिट्०

यंग एशिया पब्लिकेशन्स
नई दिल्ली-३

समर्पित

*नई पीढ़ी के मूर्धन्य निबन्धकार—आलोचक*

श्रद्धेय डॉ० नगेन्द्र

को

—सुरेन्द्र माथुर



प्रकाशक | यंग एशिया पब्लिकेशन्स
डी/३०५ डिफेन्स कालोनी, नई दिल्ली-३

प्रथम संस्करण

मुद्रक | युगान्तर प्रेस, दिल्ली-६

मूल्य २५-००

# अन्तः सूत्र

हिन्दी की साठोत्तरी पीढ़ी ने नवलेखन में पनपते हुए निबन्ध साहित्य को नवीन सम्भावनाओं के साथ प्रस्तुत किया है। आलोचनात्मक निबन्धों में नवीन प्रविधि एवं प्रक्रिया को स्थान मिला, साथ ही विषय का तलस्पर्शी उद्घाटन तेज़ी से किया गया है। नवलेखन से सम्बद्ध होकर निबन्ध के विकास का आयाम भी व्यापक होता जा रहा है। इधर नवीन जीवन मूल्यों की तलाश और पुराने मूल्यों की तराश में युगीन सन्दर्भों को 'आधुनिकता' के साथ देखा जाने लगा है। आधुनिकता के अंकुरण से प्राप्त नव-सन्देश बोध की दृष्टि से महत्वपूर्ण सिद्धि के मार्ग बने हैं। नव्य-काव्य के कलेवर की भाँति निबन्ध का कलेवर भी कथ्य एवं शिल्प दोनों ही दृष्टियों से परिवर्तित हुआ है। कथ्य की इस नव्यता ने निबन्ध को चिन्तना के नये प्रयोग और अन्त: मन की रम्यता में परिपूर्णता दी है। चिन्तना का यथार्थ खुलासा किया गया है एवं विषय विश्लेषण में तर्क शक्ति को पुष्ट किया गया है। अपर्याप्त मानदण्ड तथा बुर्जुआ चिन्तन प्रणाली को झटके के साथ निबन्ध से छोड़ दिया गया। आत्म तत्व के अन्वेषण में नवीन प्रयोगों को आधार मानकर बहुत कुछ उपादेय युग-बोध के साथ 'निबन्ध' में जुड़ गया है। सोचने की दृष्टियों में विभिन्न होते हुए भी परिवेशजन्य चिन्तन की समसामयिकता को अपनाया गया है।

आधुनिक साहित्य का मूल्याङ्कन छायावाद से ही आलोचक को चुनौती के रूप में मिला, उसने अपने आलोचनात्मक निबन्धों में इस 'चुनौती' को समझने तथा उत्तर देने का प्रयत्न भी किया है। मैं निबन्धों में दृष्टि की स्वच्छता तथा चिन्तन की निरन्तरता का समर्थक हूँ। इस संकलन के निबन्ध १९६३ से १९६८ तक के अन्तराल में लिखे गये हैं, कुछेक आलोचनात्मक पत्रिकाओं के माध्यम से पाठकों के सामने भी आ चुके हैं। इन सभी निबन्धों को एकत्र कर देना मेरा मूल उद्देश्य रहा है, साथ ही इससे जिज्ञासु पाठक की दृष्टि को भी मेरे चिन्तन का एक क्रम मिलेगा। महाकवि 'प्रसाद' के साहित्यिक प्रदेय से लेकर लोक-साहित्य में सामाजिक जीवन के तत्व' नामक निबन्ध तक मैं पुनरावृत्ति से बचता रहा हूँ। निर्णय विज्ञ पाठकों पर छोड़ता हूँ।

—सुरेन्द्र माथुर

## अनुक्रम

# हिन्दी साहित्य को 'प्रसाद' का प्रदेय

हिन्दी की रोमाण्टिक काव्यधारा के प्रवर्तक श्री जयशंकर 'प्रसाद' का जन्म सन् १८८९ ई० को काशी के एक प्रसिद्ध प्रतिष्ठित और उदार घराने में हुआ था। इनके पूर्वज कन्नौज में रहते थे जो बाद में काशी आ बसे थे। पितामह बाबू शिवरत्न प्रसाद ने तम्बाकू के व्यापार में खूब धन तथा यश अर्जित किया था। इनका सम्भ्रान्त परिवार 'सुंघनी साहु' के नाम से प्रसिद्ध था। उस परिवार में प्रसाद जी बाबू देवी प्रसाद के पुत्र थे। इनका बचपन बड़े लाड़-प्यार से व्यतीत हुआ। पारिवारिक क्लेशों एवं परिस्थितियों के कारण ये स्कूली शिक्षा अधिक न पा सके और उर्दू, फारसी, संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी की शिक्षा इन्हें घर पर ही मिल सकी। पिता काव्य-प्रेमी थे तथा सम्पत्तिशाली होने के कारण इनके घर पर कवियों, पंडितों, ज्योतिषियों और गायकों आदि की मंडली जुड़ी रहती थी। कवि गोष्ठियाँ होती थीं। समस्या-पूर्तियाँ होती थीं। अतः बचपन से ही प्रसाद जी के मन पर काव्य के संस्कार पड़ने प्रारम्भ हो गए थे। शिव की उपासना एवं शैव दर्शन के प्रति कुटुम्ब में गहरी आस्था थी। इस प्रकार परिवार का वातावरण भी इन्हें सांस्कृतिक, साहित्यिक, दार्शनिक एवं धार्मिक ही मिला। काशी ऐसे पवित्र मन्दिर में जन्म लेकर ११ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने अपनी माता के साथ धारक्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, ब्रज, जयपुर, अयोध्या आदि तीर्थों की यात्राएँ कीं। इसी कारण उनकी सभी काव्य कृतियों में प्रकृति के सहचर्य की अनभूति मिलती है।

१२ वर्ष की किशोरावस्था में ही माता-पिता और परिवार के कई सदस्यों की मृत्यु के कारण इन पर एक अनभ्र वज्रपात हुआ। ज्येष्ठ भ्राता शंभुरत्न प्रसाद जी भी इन्हें केवल १७ वर्ष की अवस्था में असहाय छोड़कर स्वर्गवासी हो गए। घर की परिस्थिति डाँवाडोल हो गई। धन सम्पत्ति के बंटवारे के लिए मुकदमेबाज़ी, व्यवसाय का शिथिल पड़ना, पारिवारिक षड्यन्त्र, बड़े भाई का ऋणभार, भरण-पोषण और पारिवारिक प्रतिष्ठा की रक्षा आदि का सारा

कार्यभार 'प्रसाद' जी के कन्धों पर आ पड़ा। ऐसी कठिन परिस्थिति में भी प्रसाद जी विचलित नहीं हुए और इन्होंने धैर्य तथा साहस से सारी कठिनाइयों का सामना किया। इन कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी वे सरस्वती की पुनीत आराधना को कभी न भूल सके। वे बराबर साहित्य रचना करते रहते थे।

जीवन निरीक्षण, समाज सम्पर्क एवं मनोरंजन का सारा कार्य वे घर पर साहित्यरसिकों के जमघट में ही किया करते थे। इसके साथ ही साथ नियमित रूप से वे साहित्य, दर्शन, इतिहास आदि विषयों का अध्ययन भी किया करते थे। वे बड़े ही मिलनसार, मृदु, विनोदप्रिय, आत्मविश्वासी, शालीन, व्यवहार कुशल व्यक्ति थे। उनकी मृत्यु राजयक्ष्मा के कारण कार्तिक शुक्ला एकादशी, सम्वत् १९९४ को काशी में हो गयी।

**व्यक्तित्व**:—असाधारण विभूति, गौरवर्ण, भव्य ललाट, विशाल नेत्र, देवता की भांति विशाल वक्षस्थल; सुगठित शरीर, मादक ध्वनि, निर्लेप आकृति में भव्य—यह है प्रसाद जी की तस्वीर जो काव्य, नाटक, कहानी के क्षेत्र में न भुलाई जा सकने वाली कीर्ति अर्जित कर चुके हैं। मानव संस्कृति के समस्त गुण 'प्रसाद साहित्य' में केन्द्रीभूत हो गए हैं। ढाके की मलमल का कुर्त्ता और शान्तिपुरी धोती पहनने वाला यह असाधारण व्यक्तित्त्व जीवन के रोमान्टिक पक्ष से कितना ममत्व रखता था यह स्पष्ट है। रुमानी और भावुक प्रकृति सौम्य, शान्त और सरल व्यक्तित्व में अहमन्यता छू भी नहीं गई थी। जन कोलाहल से दूर मौन साहित्य-साधना उसे प्रिय थी। अपने मकान के समक्ष लगाये गये बगीचे में बैठकर विहँसते फूलों की श्रीसुषमा में प्रसाद जी अपने को भी भूल जाते थे। यहीं पारिजाति के वृक्ष के नीचे चौकी पर बैठकर प्रसाद जी अपनी रचनाएँ सुनाते थे। पान छोड़कर उन्हें अन्य कोई व्यसन ही न था। मांस मदिरा से उन्हें विशेष घृणा थी। जीवन के सुख दुःख में ही उन्हें 'आनन्द' की अखण्डता मिली जो आगे चलकर उनके साहित्य की मूल चेतना बन सकी। डॉ० नगेन्द्र जी के शब्दों में प्रसाद का व्यक्तित्व और भी अधिक निखरा दिखाई देता है—"शान्त गम्भीर सागर जो अपनी आकुल तरंगों को दबाकर धूप में मुस्करा उठा हो, या फिर गहन आकाश जो झंझा और विद्युत को हृदय में समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा हो।"

साहित्य के विभिन्न अंगों पर प्रसाद की गहरी छाप है। विभिन्न साहित्यिक शैलियों की नवीनता, विचारों की प्रौढ़ता, मानसिक और सामाजिक

क्रान्ति, भावों की गम्भीरता, कल्पना की मौलिकता और उदात्तता आदि गुणों के कारण ही 'प्रसाद' रोमाण्टिक युग के प्रवर्तक कहे जाते हैं।

**प्रसाद का काव्य :**—प्रसाद जी मूलतः कवि हैं, इसीलिए उनके सम्पूर्ण साहित्य की अन्तरात्मा में काव्य की गहन और पृथुल रसधार प्रवाहित होती दिखाई देती है। वैसे साहित्य के सभी क्षेत्रों में प्रसाद जी ने अपनी मौलिकता की छाप अंकित की है। प्रसाद जी का काव्य इस युग की साहित्यिक मान्यताओं से नितान्त मौलिक और नवीन रहा है। काव्य के क्षेत्र में उन्होंने एक नवीन युग का सूत्रपात किया और उस भाव-शैली का प्रवर्तन किया जिसे छायावाद की संज्ञा प्रदान की गई। द्विवेदी युग की साहित्य मानस में बैठी हुई कठोर नैतिक आदर्शवादिता, इतिवृत्तात्मकता, काव्य की विषयगत प्रधानता जो काव्य को स्पन्दनहीन बना रही थी, प्रसाद के काव्य से समझौता न कर सकी। प्रसाद जी ने अपनी आन्तरिक चेतना से विभिन्न साहित्यिक तत्वों को मिलाकर, प्राचीन और नवीन का समन्वय कर एक नवीन काव्य-शैली को जन्म दिया जिसके अंतर्गत केवल जाति सुधार और देश प्रेम ही आदर्शतत्व न थे वरन् गम्भीर आत्माभिव्यंजन, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, स्निग्ध और सुकुमार भाषा, कोमल और स्वच्छन्द कल्पना, मानवीकरण, नवीन छन्द विधान आदि तत्वों को स्थान मिला। प्रेम, सौन्दर्य, यौवन, मानव जीवन के सुख दुःख, चिन्तन, रहस्य आदि स्वरों को ग्रहण कर जीवन से तटस्थ कवि मुखर हो उठे। हिन्दी काव्य की यही अनुभूति छायावाद और रहस्यवाद के नाम से प्रसिद्ध हुई। डॉ० नगेन्द्र जी ने इसीलिए कहा भी है—"आज से बीस पच्चीस वर्ष पूर्व युग की उद्बुद्ध चेतना ने वाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई।" प्रसाद के काव्य की मूलचेतना यही आन्तरिक साधना है। उसमें कवि के प्रेम, रूप, ऐश्वर्य की मनोवृत्तियों का प्रकृति के प्रति विशेष आकर्षण भी लक्षित दिखाई पड़ता है जिससे काव्य में रोचकता, प्रफुल्लता और सजीवता आई।

'प्रसाद' जी ने खण्ड काव्य, मुक्तक काव्य और महाकाव्य—तीनों प्रकार के काव्यों की रचना की। काव्य में विशेष रूप से श्रृंगार, वीर और करुण रस का निरूपण हुआ है। छोटे-छोटे मधुर गीतों में भी उनकी आत्माभिव्यंजनपूर्ण अनुभूतियां दिखाई पड़ती हैं। भावों का ललित विन्यास, छन्दों की नवीनता शब्दों में ऐसी पिरोई गई है कि देखते ही बनता है। इनके काव्य की मूल

कृतियां इस प्रकार हैं—चित्राधार, करुणालय, महाराणा का महत्व, काननकुसुम, प्रेमपथिक, झरना, लहर, आँसू और कामायनी।

'चित्राधार' उनकी प्रारम्भिक ब्रजभाषा की रचनाओं का संग्रह है। इसमें प्रौढ़काव्यत्व का दर्शन नहीं होता पर कवि की सम्पूर्ण आद्रता का परिचय अवश्य मिल जाता है। इसमें अयोध्या का उद्धार, वन मिलन और प्रेम राज्य ये ब्रजभाषा की प्रबन्धात्मक रचनाएं हैं। इनमें प्रारम्भिक रचनाओं के विषय की विविधता मिल जाती है। इन कविताओं के शीर्षक तत्कालीन कवियों की कविताओं के शीर्षक से नवीनता लिए हुए हैं तथा बीच-बीच में छायावादी ढङ्ग के प्रतीक विधान भी मिलते हैं। इनकी 'रसाल मंजरी' की कुछ पंक्तियां देखिए—

ऋतु नायक के कृपा दृष्टि ते यह अति लोनी।
धारयो 'नवल' 'रसालमंजरी' सुधारस लोनी॥
कछुक मधुर मकरन्द अबहिं यामें भीन्यो है।
अबलों कोउ मधुकर मरन्द नाहिं लीन्ह्यो है॥

चित्राधार के पश्चात 'कानन कुसुम' का प्रकाशन हुआ जिसमें वाह्य प्रकृति और मानवीय अन्त: प्रकृति की समानान्तर स्थितियों पर दृष्टि डाली गई है। 'प्रसाद' में मानवीय सौन्दर्य और प्राकृतिक सुषमा के साथ दिव्य-सौन्दर्य का जो हृदयोल्लास बाद में प्रकट हुआ उसका दर्शन 'कानन कुसुम' के 'सौन्दर्य दर्शन' में दृष्टव्य है—

लोग प्रिय-दर्शन बताते इन्दु को
देखकर सौन्दर्य के इक विन्दु को,
किन्तु प्रिय-दर्शन स्वयं सौंदर्य है
सब जगह इसकी प्रभा ही वर्य है।

कहीं-कहीं पर कवि अन्त: और वाह्य दोनों प्रवृत्तियों में समता स्थापित करता हुआ सा दिखाई देता है—

मनोवृत्तियां खगकुल सी थीं सो रहीं,
अन्त:करण नवीन मनोहर नीड़ में।
नील गगन-सा शान्त हृदय भी हो रहा,
वाह्य आन्तरिक प्रकृति सभी सोती रही।

कवि प्रसाद 'प्रेम पथिक' तक आते-आते 'मानवीय प्रेम' के कवि बन

गए, पर वे इसे आध्यात्मिक धरातल के दिव्य-लोक की वस्तु के रूप में ही प्रतिष्ठित करते हुए कहते हैं—

प्रेम पथिक पदार्थ न इसमें कहीं कपट की छाया हो।
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्ति मात्र में बना रहे।।

साथ ही यह भी कहते हैं—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुंचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं।।

प्रसाद ने मानस की प्रेममयी पीड़ा और रूप-सौंदर्य के विरुद्ध प्रेम सृष्टि की ओर जीवन को अभिमुख करने का संकेत भी इस सूचना में दिया है। रूप सौंदर्य की अभिव्यक्ति में वे आधुनिक हिन्दी के अप्रितम शिल्पी हैं। सच्चे मित्र के अनुभव और उसकी अनुभूतियों को उन्होंने कितने सुन्दर ढङ्ग से अभिव्यक्त किया है—

क्षणभर में ही बने 'मित्रवर' मुँह पीछे फिर दुर्जन हो,
'प्रिय' हो 'प्रियवर' हो तो तुम हो, काम पड़े पर परिचित्त हो।
कहीं तुम्हारा 'स्वार्थ' लगा है, कहीं लोभ है मित्र बना,
कहीं प्रतिष्ठा कहीं रूप है, मित्र रूप में रंगा हुआ।।

इनकी इस रचना की सबसे बड़ी विशेषता है विश्वात्मा एवं विश्व देवता की कल्पना करना।

'प्रेम-पथिक' के पश्चात् प्रसाद जी की काव्य रचना 'महाराणा का महत्व' प्रकाश में आई। इसमें नाटकीय तत्वों के साथ रचना शैली भी प्रौढ़ हो गई है। कवि की वाणी बड़ी ओजपूर्ण है। यह ग्रन्थ खड़ीबोली के काव्य में ऐतिहासिक महत्व रखता है। महाराणा की प्रशंसा करता हुआ खानखाना कह उठता है, जिसमें राजपूती वीरत्व की धारा प्रवाहित होती हुई दिखाई पड़ती है—

जैसे झपटे सिंह, वही विक्रम लिये,
वीर 'प्रताप' दहकता था दावाग्नि सा।
सत्य प्रिये! मैं देख शूर छवि वीर की,
होता था निश्चेष्ट, वह कैसी प्रभा।
कितने युद्धों में मेरी निश्चेष्टता

हुई विजय का कारण वीर 'प्रताप' के
क्योंकि मुग्ध होकर मैं उनको देखता।

इस वीरत्व के साथ-साथ विलास की मधुमयी धारा प्रवाहित होती है। भारतीय नारी जो केवल एक से प्रेम करती है इसका जैसा जीवित काव्यमय प्राणवान रूप प्रसाद ने चित्रित किया है उसे देखने के लिए किसका हृदय लालायित न हो उठेगा—

"कंपी सुराही करकी छलकी वारूणी
देख ललाई स्वच्छ मधूक कपोल में;
खिसक गई उर से जरतारी ओढ़नी,
चकाचौंध सी लगीं विमल आलोक को,
पुच्छमर्दिता वेणी भी थर्रा उठी।
आभूषण भी झन-झन-कर बस रह गये।
सुमन कुंज में पंचम स्वर से तीव्र हो
बोल उठी वीणा-चुप भी रहिये ज़रा
जिसकी नारी छोड़ी जाकर शत्रु से,
स्वीकृत हो सादर अपने पति से, भला
वह भी बोले, तो चुप होगा कौन फिर।"

'झरना' में आते-आते प्रसाद विराट सत्ता के रहस्यात्मक स्वरूप के प्रति अधिक जिज्ञासु हो गए हैं। धीरे-धीरे उनका हृदय रहस्यमयी सत्ता के सौन्दर्य का भावन करने लगता है। उनकी कल्पना भी इसमें निखार पा गई है। वे रहस्यमयी सत्ता का अनुभव प्रकृति के प्रत्येक कण में करते हैं—

'कौन प्रकृति के करुण काव्य सा, वृक्ष पत्र की मधुछाया में।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नरवर-काया में॥

'झरना' प्रसाद के यौवन की आशा, निराशा और प्रेम पीड़ा का मादक आनन्द है, गीतों की प्रयोगशाला है और है कवि का टर्निंग प्वाइंट। छोटे-छोटे गीतों में प्रेम स्वाभाविक, सजीव एवं मांसल है। प्रेमी के मन को समझाती हुई पंक्तियाँ जहां मन से मन और छाती से छाती के भरपूर मिले रहने पर छोह प्रकट करती हैं वहीं कवि गा उठता है—

या फिर,

जिसे चाह तू उसे न कर आँखों से कुछ भी दूर।
मिला रहे मन मन से, छाती छाती से भरपूर।।

कहीं-कहीं पर मनोभावों के चित्रों में गम्भीर तथ्य की काव्यात्मक मूर्तिमयी वाणी आनन्द, करुणा, स्नेह, वासना, जिज्ञासा, शंका, दया, ममता, उपालंभ, आग्रह, अनुरोध, आशा, निराशा आदि की अभिव्यक्ति छायावाद एवं रहस्यवाद के बीच भी दिखाई पड़ती है—

कौन प्रकृति के करुण काव्य सा, वृक्ष पत्र की मधुछाया में।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में।।

× × ×

निर्झर कौन बहुत बल खाकर, बिलखाता ठुकराता फिरता।
खोज रहा स्थान धरा में, अपने ही चरणों में गिरता।।
किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रान्त चरण है।।

'आँसू' में कवि की घनीभूत पीड़ा दुर्दिन के आँसू बनकर बरस पड़ती है। उसकी व्यक्तिगत वेदना विश्ववेदना बन गई है। कवि की अनुभूति असीम और अलौकिक आधार पर प्रतिष्ठित हुई है। एक ओर वह स्वयं स्वीकार करता है—

जो घनीभूत पीड़ा थी,
मस्तक में स्मृति सी छाई,
दुर्दिन में आंसू बनकर.
वह आज बरसने आई।

वस्तुतः 'आँसू' प्रसाद का ही नहीं हिन्दी का श्रेष्ठ विरह काव्य है। इसमें कवि के प्रणयी जीवन के रंगीन वैभव की करुण स्मृतियाँ, मिलन के काल्पनिक चित्र, विरह की मर्मभरी वेदना और अन्ततः आशा की क्षीण झलक बिम्बित हुई है। वह विरह की वेदना को जीवन कल्याणी के रूप में स्वीकार करता है। इन्हीं कारणों से आंसू काव्य का स्वर आशावादी हो गया है—

निर्मम जगती को तेरा
मंगलमय मिले उजाला,
इस जलते हुए हृदय की,
कल्याणी शीतल ज्वाला।

आगे चलकर कवि अपने प्रियतम के सुन्दर मुख, मादक नेत्र, अंजन रेखा के सौन्दर्य, बरौनी रूपी कमान, लाली की स्थिति-रेखा, भौं के बाल, मोती से दांत, कान, शरीर, मन, हृदय, अलकें तथा तज्जनित आकर्षण का मादक वर्णन करता है। फिर प्रणय के हाव भावों एवं व्यापारों का चुम्बन, अधरों की मुरली, परिरंभन, श्रम-सीकर, मिलन कुंज में शिथिल चाँदनी का शयन आदि—वर्णन करते-करते कहता है कि प्रियतम मानस का सब रस पीकर तुमने सूखी प्याली लुढ़का दी और विकसे स्नेह सरोज को सुखा दिया। प्रसाद ने प्रेमिका के स्वरूप का मदभरा अनुपम स्वरूप खड़ा कर उसके भावों को चित्रमय, ध्वनिमय और रसमय अभिव्यक्ति से पूर्ण किया है। मुख का यह सौन्दर्य दृष्टव्य है—

बांधा था विधु को किसने,
इन काली जंजीरों से,
मणि वाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से।

उन्हें चेतना की शांति में ही मिलन सुख प्राप्त होता है और वे कह उठते हैं—

चेतना लहर न उठेगी, जीवन समुद्र थिर होगा,
सन्ध्या हो स्वर्ग प्रलय की, विच्छेद मिलन फिर होगा।

'लहर' में कवि पुनः ऐसे ही वैभव और रंगीन जगत् के लिए तीव्र लालसा लिए हुए है। यौवन का मादक स्वर बड़ी प्रखरता के साथ उसमें उभरा है। यौवन की आकुल स्मृति उसे मथे डालती है और वह कह उठता है—

आह रे, वह अधीर यौवन !
अधर में वह अधरों की प्यास,
नयन में दर्शन का विश्वास,
धमनियों में आलिंगनमयी—

वेदना लिए व्यथाँए नई,
टूटते जिससे सब बंधन
× × ×
वही पागल अधीर यौवन

अधीर यौवन की चंचल छाया में प्रेम की निश्चल कथा सुनने के लिए कवि अपने आत्मपरक गीत में एकाकी संसार से पलायन करके आनन्द उठाना चाहता है जिससे समरसता के सिद्धान्त का संकेत भी मिल जाता है—

ले चल मुझे भुलावा देकर,
मेरे नाविक धीरे-धीरे !
× × ×
जहाँ साझ-सी जीवन छाया,
ढीले अपनी कोमल काया,
नील नयन से ढलकाती हो
ताराओं की पाँति घनी रे
× × ×
अमर जागरण उषा नयन से
बिखराती हो ज्योंति घनी रे ।।

'लहर' के अनेक गीतों में रहस्यवादी भावनाओं, अनुभूतियों तथा अभिव्यक्ति की तादात्म्य स्थिति समन्वित होकर साकार हुई है—'तुम हो कौन और मैं क्या हूँ, इसमें क्या है धरा सुनो।' इसी प्रकार लहर के अन्य गीत सफल जीवन के आलोक की शाश्वत छाया हैं, मानव कल्याण की कामना से परिपूर्ण हैं। खड़ीबोली के गीत ग्रंथों में इसकी महत्ता अनिवार्य एवं ऐतिहासिक हैं, उसमें अतीत के प्रति आकर्षण है तभी शुक्ल जी ने लिखा है—"लहर में प्रसाद जी ने अपनी प्रगल्म कल्पना के रंग में इतिहास के 'कुछ खण्डों को भी देखा है। जिस वरुणा की शान्त कछार में बुद्ध भगवान ने धर्म चक्र का प्रवर्तन किया था, उसकी पुरानी झाँकी अशोक की चिन्ता, शेरसिंह का शस्त्र समर्पण, पेशोला की प्रतिध्वनि, प्रलय की छाया, ये सब अतीत के भीतर कल्पना के प्रवेश के उदाहरण हैं।"

'कामायनी' प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ काव्य कृति है। कवि के जीवन का सर्व संकलन है। उसमें तत्वज्ञान, समाज रचना का आधार, जीवन का उत्कर्ष

और कल्याणकारी सौन्दर्य व्यक्त हुआ है। कथावस्तु का विशेष आग्रह न होते हुए भी कामायनी में कवि ने भारतीय साहित्य के आदि पुरुष मनु को कथा नायक बनाया है। 'श्रद्धा' नायिका के रूप में है। मनु और श्रद्धा के साहचर्य से मानवता का विकास दिखाया गया है। संपूर्ण कामायनी महाकाव्य में—चिंता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य, आनन्द—पन्द्रह सर्ग हैं। ये सर्ग मानव मन की विभिन्न वृत्तियों के विशद रूपक के रूप में वर्णित किये गए हैं। इसमें शाश्वत, शांति और अखण्ड आनन्द की आकांक्षा से उदबुद्ध मानवात्मा की चिरन्तन पुकार है, मानव मन की जिज्ञासाओं का समाधान है। शुद्ध काव्य-कला की दृष्टि से कामायनी छायावादी युग की सर्वश्रेष्ठ रचना है। विचार-गांभीर्य, भावसौन्दर्य, कला-सौष्ठव तथा विषय गौरव के कारण हिन्दी साहित्य की यह अनूठी कृति है। कामायनी में लज्जा के इस चित्र की भाँति प्रसाद संकल्पचित्र में श्रद्धा के रूप की व्याख्या करते हैं—

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
　　विश्वास रजत नग पग तल में,
पीयूष स्त्रोत सी बहा करो
　　जीवन के सुन्दर समतल में।
आँसू के भीगे अंचल पर
　　मन का सब कुछ रखना होगा,
तुमको अपनी स्मिति रेखा से
　　यह सन्धिपत्र लिखना होगा ॥

ईर्ष्या के जाग उठने पर मनु कह उठते हैं—

तुम अपने सुख में सुखी रहो
मुझको दुःख पाने दो स्वतन्त्र,
मन की परवशता महादुख
मैं यही जपूँगा महामंत्र।
लो चला आज मैं छोड़ यहीं
संचित संवेदन भार पुंज।
मुझको काँटे ही मिलें धन्य।
हो सफल तुम्हें ही कुसुम कुंज ॥

**प्रसाद के नाटक** :—काव्य के बाद प्रसाद जी की साहित्यिक प्रवृत्ति उनके नाटक हैं। ये हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार कहे जाते हैं। सज्जन, कल्याणी परिणय, प्रायश्चित, राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना, स्कन्दगुप्त, एक घूंट, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी प्रसाद की सुप्रसिद्ध नाट्य कृतियां हैं। प्रसाद जी के इन नाटकों का मूल आधार देशप्रेम और भारतीय संस्कृति है जो सांस्कृतिक पुनरुत्थान और राष्ट्र के नवनिर्माण की दिव्य भावनाओं से संजोए हुए हैं। इतिहास के तथ्यों का अंकन करने में प्रसाद जी की कल्पना शक्ति उर्वरा है। कथानक संगठन, मनोवैज्ञानिक और सूक्ष्म चरित्र चित्रण, रमणीय कल्पना प्रधान शैली तथा गंभीर जीवन संदेश के कारण ये नाट्य कृतियाँ प्रसाद जी की अक्षय कीर्ति का आधार बन गई हैं। अधिकाँश नाटक ऐतिहासिक कथानक लेकर ही चले हैं जिनमें प्रसाद का गम्भीर इतिहास-प्रेम, भारत के वास्तविक गौरव का ज्ञान, मानव चरित्र का अध्ययन तथा नाट्यरचना का सूक्ष्म कौशल निहित है। नाटकों में युग विशेष के चित्रणों के साथ-साथ वर्तमान जीवन की समस्याओं को भी ऐतिहासिक वातावरण में उपस्थित किया गया है। इन नाटकों में पूर्व और पश्चिम की नाट्य शैलियों एवं तत्वों के मिश्रण के कारण इतिहास और कल्पना का मधुर सामंजस्य दिखाई देता है। राज्यश्री, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी आदि नाट्य कृतियाँ रंगमंच की दृष्टि से अत्यन्त प्रभावशाली बन पड़ी हैं। ध्रुवस्वामिनी, देवसेना, मालविका, कल्याणी, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, स्कन्दगुप्त आदि पात्र प्रसाद की उच्चकोटि की सृष्टियाँ हैं। काव्य में जहां वे अत्यधिक वैयक्तिक और रोमांटिक हैं वहां नाटकों को सांस्कृतिक पुनरुत्थान और राष्ट्र के नवनिर्माण की दिव्य-भावनाओं से पूरित किए हुए हैं। विशाख की भूमिका में प्रसाद जी ने स्वीकार भी किया है कि "मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्हें कि हमारी वर्तमान स्थिति बनाने का बहुत कुछ श्रेय है।" बौद्धकाल, गुप्तकाल और मौर्यकाल ही हमारे अतीत के स्वर्णकाल माने जाते हैं। प्रसाद के सभी कथानक इन्हीं कालों से सम्बन्धित हैं। चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त नाटकों में राष्ट्रीयता और देशप्रेम का भव्य आदर्श प्रस्तुत किया गया है। राष्ट्रीयता की गूंज लिए चाणक्य के शब्दों में आज की प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता पर व्यंग किए गए हैं—"मानव और

मागध को भूलकर जब आर्यव्रत का नाम लोगे तभी यह मिलेगा।" इनके नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता उनका काव्यत्व है। प्रसाद के पात्र भावुक अधिक हैं और कविता में बातचीत करते हैं। नाटक की घटनाएँ रोमाँस और रस से परिपुष्ट हैं। डा० नगेन्द्र जी ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है— "वस्तु चयन, पात्रों के व्यक्तित्व, वातावरण कथोपकथन और सारभूत प्रभाव सभी में कविता का रंगीन स्पन्दन है। प्रसाद ने अपनी रंगीन कल्पना के सहारे दूर अतीत के बिखरे हुए प्रस्तुत खण्डों को एकत्रित कर उनमें प्राणों की कविता का रस भर दिया है।"

दार्शनिकता और चिंतन की भावना से पूर्ण प्रसाद के नियतिवाद ने पात्रों के व्यक्तित्व को कभी-कभी दोहरा दिया है। कभी-कभी पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व और वहिर्द्वन्द्व नाटकों की घटनाओं एवं परिस्थितियों का निर्माण करते हैं। नंद के प्रति चाणक्य की प्रतिशोध भावना तथा सुवासिनी के प्रणयद्वन्द्व को लेकर चन्द्रगुप्त नाटक की विभिन्न घटनाओं का निर्माण होता है। नियतिवाद से प्रभावित पात्र भी सच्चे अर्थों में कर्मवीर हैं। द्वन्द्वों से चरित्र विकास दिखाया गया है। भटार्क, सर्वनाग, आंभीक, शाँतिदेव, जनमेजय अपने हृदय की सत् असत् प्रवृत्तियों से अन्तर्द्वन्द्व करते हुए गतिशील होते हैं। चाणक्य और देवसेना के चरित्रों में प्रणय और लोकहित के बीच द्वन्द्व की सृष्टि हुई है। चरित्र चित्रण में एक रूपता है पर पात्रों में विविधता। रहस्यों को समझाने वाले तत्ववेत्ता, आचार्य, दार्शनिक, सैनिक, कूटनीतिज्ञ, स्नेही, महत्वाकाँक्षी सभी प्रकार के पात्रों का निर्माण नाटकों में हुआ है। प्रसाद को पुरुष पात्रों की अपेक्षा नारी पात्रों के चरित्र-निर्माण में अधिक सफलता मिली है। चरित्र-चित्रण में आदर्शवाद की छाप स्पष्ट है। पात्रों के कथोपकथन चुस्त, व्यावहारानुकूल, भावव्यंजक और संघर्षमय हैं। सुख दुख की धूप छाँह में खेले गए प्रसाद के नाटकों में करुणा की एक टीस विद्यमान् रहती है। इस समन्वय के कारण उनके नाटक न पूर्णतः सुखान्त है न दुःखान्त वरन् वे प्रसादान्त हैं। सभी नाटक सुख और शान्ति, त्याग और बलिदान की भावना से अनुप्राणित हैं। उनके नाटकों का वाह्य शरीर पश्चिमीय है पर आत्मा भारतीय। समष्टि रूप से हम यह कह सकते हैं कि पात्रों के चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिक पद्धति का ग्रहण, राष्ट्रीय भावनाओं का समर्थन, अन्तर्द्वन्द्व और वहिर्द्वन्द्व के आधार पर कथानक का विकास, नारी पात्रों की बहुलता एवं

सक्रियता, गीतों का अधिक्य, कथा सूत्रों की बहुलता, पाश्चात्य एवं भारतीय नाट्य शैलियों का समन्वय, भाषा की काव्यात्मकता आदि प्रसाद के नाटकों की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

**प्रसाद के उपन्यास:**--उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में भी प्रसाद जी ने अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। काव्य में जहां प्रसाद जी स्वच्छन्दतावादी हैं, नाटकों में आदर्शवादी हैं, वहाँ उपन्यासों में वे यथार्थवादी हैं। प्रसाद जी ने अपनी मौलिकता और नवीनता से पूर्ण कंकाल, तितली और इरावती (अपूर्ण) नामक तीन सुप्रसिद्ध उपन्यासों की रचना की। औपन्यासिक गुणों से पूर्ण यह उनकी सशक्त रचना थी। 'कंकाल' एक यथार्थवादी सामाजिक उपन्यास है जिसे हम समाज के खोखलेपन की कहानी कह सकते हैं। लेखक ने रूढ़िवादी हिन्दू समाज का असली रूप कितना कुत्सित है, कितना गर्हित हैं, उसके संस्कार कितने कुंठाग्रस्त है, आदर्श कितने थोथे हैं···'कंकाल' उपन्यास में निर्ममतापूर्वक खोदकर बिना कोई आवरण डाले उसका दिग्दर्शन कराया है। इसमें समाज संगठन और समाज सुधार का कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास आदि से अंत तक समाज के काले पीले-चित्रों का संग्रह है। मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्रण, गहरी मानवीय और जातीय भावना एवं प्रभावमयी भावना मन पर एक स्मृतिरेखा अंकित करती है। हमारे आज के सामाजिक जीवन की विडम्बना पर उपन्यासकार का सबसे बड़ा व्यंग है हिन्दू समाज की जड़ता और प्रगतिशीलता का द्वन्द्व। यह कंकाल के सभी पात्रों में तीव्रता के साथ उभरा है। उदाहरणार्थ—"कर्त्तव्य के लिए प्रेरित परन्तु समाज के भय से अवसर आने पर विश्वासघात करने वाले मंगल जैसे युवक, धन और विलास में रत समाज के प्रतिष्ठित वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले श्रीचन्द जैसे व्यवसायीजन, किशोरी के पीछे पागल देव निरंजन जैसे धर्मगुरु और फिर समाज की व्यवस्था के कपाटों में पिसी हुई तारा, लतिका, घंटी का जीवन समाज के खोखलेपन को प्रकट करते हैं।

'तितली' में प्रसाद जी ने आधुनिक समाज के विभिन्न वर्गों की परस्पर स्थिति और उसके संस्कार चित्रित किए हैं। इसमें ग्रामीण जीवन की दुर्बलताओं के चित्र हैं। कंकाल में जहाँ विद्रोह और विध्वंस अधिक है तितली में निर्माण और सहयोग के स्वर हैं। 'तितली' प्रसाद जी का आदर्शवादी उपन्यास है जिसमें मधुबन और तितली की मार्मिक जीवन गाथा अंकित की

गई है। ग्रामों को स्वर्ग बनाने का आदर्श सामने रखा गया है।

'इरावती' में प्रसाद जी पुनः इतिहास की ओर मुड़े हैं। 'शुंगवंश' से सम्बन्धित कथानक को लेकर शैव सिद्धान्तों के आनन्दवाद को उन्होंने आगे बढ़ाया है। इसमें मौर्य साम्राज्य के अधःपतन के चित्र अंकित किए गए हैं।

इस प्रकार औपन्यासिक कला की दृष्टि से उपन्यासों में लेखक की पैनी जीवन दृष्टि, इतिहास ज्ञान, सजीव वातावरण सृष्टि, कौशलपूर्ण वस्तुसंगठन अलंकारपूर्ण काव्य व्यंजन सुन्दरता के साथ संजोए गए हैं।

**प्रसाद की कहानियां:**—हिन्दी के मौलिक कहानीकारों में आप अग्रगण्य हैं। कहानी कला के क्षेत्र में इन्होंने एक नये युग का सूत्रपात किया। कविता, नाटक, उपन्यास की भाँति ही कहानी क्षेत्र में भी प्रसाद जी ने हिन्दी साहित्य को अनेक नवीन दिशाएँ दी हैं। प्रतिध्वनि, छाया, आकाशदीप, इन्द्रजाल और आंधी इनके पांच प्रसिद्ध कहानी संग्रह हैं। संख्या की दृष्टि से उनकी कुल कहानियाँ सत्तर हैं जो अपने रचना शिल्प, मार्मिक प्रभाव, अनुभूतिपरता और ध्वन्यात्मकता के कारण अपने अन्य साहित्य की भांति रोमांस या स्वच्छन्दतावाद की धारा को आगे बढ़ाती दृष्टिगोचर होती हैं। प्रसाद की अधिकांश कहानियां प्रतीकात्मक हैं जिनमें अनुभूति की गहराई तो है ही साथ ही वातावरण की प्रधानता भी दिखाई देती है। इन कहानियों को समाप्त करने पर एक कचोट पाठक के मन पर बनी रह जाती है। ये कहानियाँ कई प्रकार की हैं—कुछ ऐतिहासिक, कुछ यथार्थवादी, कुछ समस्यामूलक, कुछ जीवन के शाश्वत प्रश्नों से पूर्ण और कुछ गद्यगीतमयी हैं। इनके अन्तर्गत जीवन के कोमल और मादक चित्र अंकित किए गए हैं। आकाशदीप, पुरस्कार, ममता, मधुआ, बेड़ी, गुण्डा, भिखारी जैसी कहानियां अत्यधिक कलापूर्ण एवं प्राणवान हैं जिनमें आदर्श और यथार्थ के समन्वय से प्राप्त जीवन दृष्टि, ध्वनि एवं कल्पना का ऐश्वर्य, मनोभावनाओं का सूक्ष्मपरिवेक्षण, गंभीर विचारानुभूति, शिल्प, शैली, न्यू टेकनीक के प्रयोग पाए जाते हैं। प्रसाद ने अपनी कहानियों के पात्रों का चरित्र निर्माण कल्पना, आदर्श और अनुभूति की समन्वित भूमि पर किया है। उनके सभी पात्र भावुक, सौन्दर्य निष्ठ, प्रेमी और यथार्थमानव से ऊपर उठे हुए हैं। वे प्रेम, करुणा, आदर्श और क्षमा आदि की रेखाओं से निर्मित हैं। प्रसाद का आदर्शवाद कहानियों के नारी-पात्रों में क्षमा, दया, ममता, त्याग और प्रेम तथा पुरुष पात्रों में शौर्य, बलिदान और चारित्रिक

दृढ़ता को लेकर चला है। आकाशदीप की चम्पा, पुरस्कार की मधूलिका और अरुण, नूरी का याकूब आदि ऐसे ही पात्र हैं। इस प्रकार कहानीकार के रूप में भी प्रसाद जी बेजोड़ हैं।

निबन्ध और आलोचना के क्षेत्र में भी प्रसाद जी का महत्वपूर्ण योग रहा है। निबन्धकार के रूप में प्रसाद जी के विचार सर्वथा मौलिक हैं, उनके निबन्धों में उनके अध्ययन की प्रौढ़ता, विस्तार, आलोचनात्मक सूझ-बूझ, साहित्यिक विवेक और चिन्तन की वैज्ञानिकता का परिचय मिलता है। 'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध' नामक ग्रंथ उनके प्रौढ़ और गंभीर साहित्यिक निबंधों का संग्रह है। उन्होंने आधुनिक हिन्दी साहित्य के सभी क्षेत्रों को अपनी रचनाओं से समृद्ध किया है। उनकी रचनाएँ उनके व्यक्तित्व की साकार प्रतिमाएँ हैं। साहित्य में उन्होंने जितना ही अपने को छिपाया है वे उतना ही अधिक उभर आये हैं। इस प्रकार हिन्दी साहित्य को 'प्रसाद' का प्रदेय बड़ा समृद्ध और विशाल है। हम इसे राष्ट्रकवि डा० मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों के साथ समाप्त कर रहे हैं—

जय शंकर कहते-कहते ही
अब भी काशी जावेंगे।
किन्तु 'प्रसाद' न विश्वनाथ का
मूर्तिमन्त हम पावेंगे।
तात भस्म भी तेरे तनु की
हिन्दी की विभूति होगी।
पर हम जो हँसते जाते थे
रोते रोते आवेंगे॥

## पंत और प्राकृतिक सौन्दर्य का उद्घाटन

आदिकाल से लेकर आज तक मानव और प्रकृति का अटूट सम्बन्ध रहा है। मनुष्य किसी भी अवस्था में प्रकृति से दूर नहीं रह सकता। संसार का मानव, अनन्त आकाश, मेघ, नक्षत्र, वर्षा, शीत, ग्रीष्म, पशु-पक्षी आदि से भागकर कहाँ जा सकता है। प्रकृति सौन्दर्य द्वारा मानव को प्रभावित करती है। उसी प्रकृति के मादक रूप पर हिन्दी के एकमात्र प्रकृति पुजारी कवि पंत अपना तन-मन हार चुके हैं। प्रकृति से ही उन्हें कविता लिखने की प्रेरणा मिली है। वह उनकी चिर सहचरी है। बाइरन की भाँति ही पंत जी मनुष्य से कम प्यार नहीं करते वरन् प्रकृति को अधिक प्यार करते हैं। इसी कारण उनके काव्य का प्रमुख विषय प्रकृति है मानव तो गौण है। मानव में भी जो प्रकृति अविकृत है उनकी संस्कृति दृष्टि उधर ही जाती है। पंत जी को कविता लिखने की प्रारम्भिक प्रेरणा प्रकृति के सौन्दर्य से ही प्राप्त हुई थी। बाल्यकाल से ही सुदूर क्षितिज तक फैली कूर्माचिल पर्वत की श्रेणियों ने उन्हें अपने नीरव सम्मेलन से सराबोर कर दिया था। मातृ-स्नेह से वंचित एकान्त चिन्तन ने एवं जन्मभूमि के इस सौन्दर्य ने पंत को प्रकृति का चिर सहचर बना दिया। 'वीणा' से 'युगान्त' तक की रचनाओं में सर्वत्र प्रकृति का आग्रह दृष्टव्य है। प्रकृति सौन्दर्य के समक्ष नारी-सौन्दर्य का आकर्षण भी फीका लगने लगता है। प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम का दिग्दर्शन करने के लिए 'वीणा' की 'मोह' कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य होंगी—

> छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
> तोड़ प्रकृति से भी माया,
> बाले ! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन !

यही प्रकृति उसके काव्य जगत को बहुरंगा रूप देती है। प्रकृति के सम्बन्ध में कवि स्वयं कहता है—

"कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है—जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकान्त में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौंदर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।"

प्रकृति की अमिट छाप पंत जी के हृदय और मस्तिष्क पर पूर्णरूप से अंकित हाती है। वीणा काल में प्रकृति-सौंदर्य अपनी सम्पूर्ण सुषमा के साथ प्रतिफलित होता था, उस समय की छोटी-छोटी वस्तुएँ भी आकर्षित करती थीं तभी तो कवि ने स्वयं लिखा भी है—

"मेरी प्रारम्भिक रचनाएँ 'वीणा' नामक संग्रह में प्रकाशित हुई हैं। इन रचनाओं में प्रकृति ही अनेक रूप धारण कर चपल, मुखर, नूपुर बजाती हुई अपने चरण बढ़ाती रही है—समस्त काव्य-पट प्राकृतिक सौंदर्य की धूप-छाँह से बना हुआ है। चिड़ियाँ, भौंरे, झिल्लियां, झरने, लहरें इत्यादि जैसे मेरे बाल्य कल्पना के छायावान में मिलकर वाद्य तरंग बजाते रहे हैं।"

पंत जी प्रकृति के मुग्धारूप पर बालक की भाँति रीझते हुए लिखते हैं—

पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश
पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश
मेखलाकार पर्वत अपार,
अपने सहस्त्र दृग सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार,
जिसके चरणों में पड़ा ताल
दर्पण सा फैला है विशाल।

यही प्रकृति-प्रेम उनकी रचनाओं में व्यक्त हो सका है। बाद की रचनाओं में प्रकृति कवि के व्यक्तित्व, अध्ययन एवं कला से अनुरंजित होकर ही आ पाई है। उसमें उसका नैसर्गिक वैभव नहीं है। पल्लव में प्रकृति के एकाएक साधारण उपकरण बादल, लहर, नक्षत्र, पुरुष को लेकर कवि ने उत्प्रेक्षा को ऐसा रूप दिया है कि विषय को भूलकर हम कल्पना में खो जाते हैं। इसलिए पल्लव को प्रकृति काव्य कहा गया है। उसी प्रकार गुंजन में प्रकृति मानव भावों की रंगभूमि है, उसमें चेतना का स्पन्दन है, प्राणों की धड़कन है, प्रकृति

और मानव में एकाकार की भावना है। प्रकृति सुशृंखलित और सुव्यवस्थित है, उसमें एक स्वरता है, संगीत है। प्रकृति दुःख के क्षणों में भी मुसकान की कली बिखेरती है। गुंजन में आकर कवि ने अपनी ऐन्द्रिक अनुभूति को सम्पूर्ण विश्व में आत्मसात करके देखा है। प्राकृतिक चेतना इसी ऐन्द्रिकानुभूति से प्राणवती हो उठी है। विस्मय एवं कुतूहल का आधार लेकर प्रकृति का खूब शृंगार किया गया है। प्रकृति के नाना रूपों की सौंदर्य-भावना को स्त्री-सौंदर्य का आरोप करके व्यक्त किया गया है। प्रकृति के माध्यम को लेकर जीवन के बहुत से जटिल प्रश्नों का समाधान भी किया गया है, क्योंकि प्रकृति ही कवि की आराध्या देवी है और है अध्यापिका भी—

कुसुमों के जीवन का पल, हँसता ही जग में देखा,
इन म्लान, मलिन अधरों पर, स्थिर रही न स्मिति की रेखा।

कवि के लिए प्रकृति साधन और साध्य दोनों ही रही है। हाँ इतना अवश्य है कि गुंजन में प्रकृति पंत जी के दार्शनिक विचारों के बोझ से दब गई है। परन्तु फिर भी कवि ने प्रकृति के इतने अधिक रूपों को वाणी एवं कल्पना से सजाया है कि हमें उसकी प्रतिभा के निखार पर आश्चर्य होता है। प्रकृति से कवि प्रभावित हुआ है, साथ ही वह उस पर मुग्ध भी है। प्रकृति प्रेम ने ही उसके हृदय में एक अज्ञात आकर्षण को जन्म दिया है; विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर भावना भी है। कवि ने प्रकृति से ही तादात्म्य स्थापित किया है। उसने अपनी भावनाएँ तक प्रकृति के माध्यम से व्यक्त की हैं। उसका प्रकृति प्रेम गुंजन में मुखर हो उठा है। समग्र प्राकृतिक चेतना मानो प्राणवती हो उठी है—

खोल सौरभ का मृदु कच जाल
सूँघता होगा अनिल समोद
चूम लघुपद चंचलता, प्राण।
फूटते होंगे नव जल स्रोत,
मुकुट बनती होगी मुसकान,
प्रिये ! प्राणों की प्राण !

प्रभात भी प्राण के मुसकाने पर सस्मित हो उठता है, ऊषा विहंस पड़ती है, सारा विश्व ऐन्द्रिकता में परिणत हो उठता है। यही भावना हमें वहाँ भी मिलती है जहाँ प्रकृति स्वयं पुष्पलाबी कन्या का रूप धर कर पंत के

समक्ष डाली भर-भर फूलों का हास बनकर उल्लास, कोकिल के कुछ कोमल बोल, शरद्-रजत मुसकान आदि बेचने आती और पूछती है—

लाई हूँ फूलों का हास,
लोगी मोल, लोगी मोल ?

पंत जी और प्रकृति का सम्बन्ध ठीक उसी भाँति है, जैसे एक मित्र का दूसरे मित्र से। वह एक दूसरे की सभी बातों को जानता है। इसी कारण वे प्रकृति के किसी भी दृश्य का संश्लिष्ट चित्रण करने में समर्थ हो सके हैं। इनके प्रकृति चित्रणों की यह विशेषता है कि सारा दृश्य आँखों के समक्ष साकार हो जाता है। कवि साथ साथ प्रकृति के उपकरणों की व्यंजना भी करता चलता है और लिखता है—

मेखलाकार पर्वत अपार
अवलोक रहा था बार बार
नीचे जल था निज महाकार
दर्पण सा फैला था विशाल।

कहीं संयोग और कल्पना के आधार पर कवि ने प्राकृतिक सुषमा का मूर्ति चित्र भी प्रस्तुत किया है। वातावरण वर्षा के कारण कोलाहलपूर्ण है। ऐसे स्थलों पर ध्वन्यात्मक शब्दों का कवि ने सुन्दर प्रयोग किया है। वर्षा और पर्वत में प्रश्नोत्तर की कल्पना करके कवि ने लिखा है—

पपीहों की वह पीन पुकार
निर्झरों का भारी झर झर।
झींगरों की झीनी झनकार
घनों की वह गुर गम्भीर घहर।
बिन्दुओं की छनती झनकार
दादुरों के वे दोहरे स्वर
हृदय हरते थे विविध प्रकार
शैल पावस में प्रश्नोत्तर ?

अनेक स्थलों पर कवि ने प्रकृति का मानवीकरण भी किया है। कवि ने प्रकृति को मानव आकार प्रदान किया है। चाँदनी का एक चित्र देखिए—

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद-हासिनि,

मृदु करतल पर शशि मुखधर,
नीरव अनिमिष, एकाकिनि ।

कवि ने प्रकृति की एक-एक वस्तु में चेतना का दर्शन किया है उसने उसमें केवल शरीर को ही नहीं वरन् मन को भी देखा है, साथ ही मन की भावनाओं को भी । फूलों के प्याले में अपना यौवन भर-भर कर उसका उपवन मधुकरों को पिलाता है—

देखता हूँ जब उपवन
पियालों के फूलों के
प्रिये भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को !

प्रकृति और कवि में इतना नैकट्य है कि वह अपनी हृदयगत भावनाओं को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त करता है । इसी निकटता के फलस्वरूप कवि के चित्रों में सजीवता और सौंदर्य का पूर्ण समावेश हो सका है । प्रेयसी की सुधि आने पर मन की जो अवस्था होती है उसका सफल चित्रण कवि में प्रकृति के माध्यम से किया है । देखिए—

तड़ित सा सुमुखि । तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर
मुझे करता है अधिक अधीर;
जुगनुओं से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान !!

हमें प्रकृति का संवेदनात्मक रूप भी कवि में मिलता है । प्रकृति कवि के दु:ख से दु:खी, दग्ध तथा आनन्द में प्रमुदित और प्रफुल्लित दिखाई देती है । कवि की हृदयस्थ वेदना के कारण स्वर्णिम सन्ध्या धधकती सी लग रही है—

धधकती है जलदों से ज्वाल,
बन गया नीलम ब्योम प्रवाल
आज सोने का सन्ध्याकाल
जल रहा जतुगृह सा विकराल !

कवि ने कहीं कहीं अपनी भावनाओं को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त न करके प्रकृति को ही भावनाओं के माध्यम से व्यक्त किया है—

गिरिवर के उर से उठ उठकर।
उच्चाकांक्षाओं से तरूवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर
अनिमेष, अटल कुछ चिन्ता पर।

कवि ने वृक्षों की ऊँचाई को उच्चाकांक्षाओं के माध्यम से व्यक्त किया है और उनकी शान्त दशा को अनिमेष, अटल और चिन्तातुर व्यक्ति से। इस प्रकार वृक्षों का मानवीकरण करके व्यक्ति की भावनाओं को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

प्रकृति को नारी रूप में चित्रित करना भी पंत जी नहीं भूले हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में स्वयं ही लिखा भी है—'प्रकृति को मैंने अपने से अलग सजीव सत्ता रखने वाली नारी के रूप में देखा है—'उस फैली हरियाली में कौन अकेली खेल रही माँ, वह अपनी वयवाली में' पंक्तियाँ मेरी इस धारणा की द्योतक हैं।"

'सन्ध्या और चाँदनी' शीर्षक कविताएँ उनकी इस रूप में लिखी गई सुन्दर रचनाएँ हैं—

कहो तुम रूपसि कौन
व्योमि से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया छवि में आप
सुनहला फैला केस कलाप,
मधु, मंथर, मृदु मौन !

प्रकृति को भेंटने के लिए पंत का कवि पागल होकर दौड़ता है। मधुप कुमारी के गानों पर मुग्ध कवि एक साथ कातर होकर उसकी मनुहारें कर उठता है—

सिखा दो ना हे मधुप कुमारि।
मुझे भी अपना मीठा गान—

पंत जी प्रकृति को सजीव मानते हैं और उसकी यवनिका में एक अन्तर्शक्ति की क्रीड़ा का अनुभव करते हैं। 'शैली' की भाँति वे भी प्रकृति को प्रायः पौराणिक दृष्टिकोण से देखते हैं, कहीं-कहीं उनका भाव भी आदिम वासियों सा हो जाता है जो आकाश, अरूष आदि को जीवधारी समझते थे। शिशुत्व की भावना का एक उदाहरण देखिए—

कभी चौकड़ी भरते मृग से,
भू पर चरण नहीं धरते,
मत्त मतंगज कभी झूमते,
सजग शशक बन को चरते ।

पंत जी कभी-कभी अपने व्यक्तित्व को प्रकृति से बाहर भी खींच ले जाते हैं और पूर्णतया पृथक होकर सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि से चित्र अंकित करते हैं—

बाँसों का झुरमुट, सन्ध्या का झुटपुट
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ
टीवी, टी, टुट टुट !

कुछ स्थलों पर प्रकृति चित्रों में आध्यात्मिकता का भी आभास मिल जाता है। वह कभी प्रकृति को प्रियतम की प्रतीक्षा में मग्न पाता है—

कब से विलोकती तुमको,
ऊषा आ वातायन से,
सन्ध्या उदास फिर जाती
सूने गृह के आँगन से !

कभी वह प्रकृति में मिलन संकेत देखता है—

उठाकर लहरों से कर मौन
न जाने मुझे बुलाता कौन ?

एक स्थल पर पंत जी प्रकृति को मानव हृदय की प्रतिच्छाया अथवा उसकी शिष्या घोषित करते हैं—

सीखा तुमसे फूलों ने
मुख मंद देख मुसकाना,
तारों ने सजल नयन हो
करुणा किरणें बरसाना ।

इसके साथ ही पंत जी ने अलंकारों की परम्परागत शैली में भी प्रकृति को विभिन्न रूपों में संजोया है । पर्वतों पर चढ़ते हुए जलदों के लिए वह हाथी का रूपक बाँधते हैं—

द्विरत दन्तों से उठ सुन्दर
सुखदकर सीकर से बढ़कर

भूति से शोभित बिखर बिखर
फैल फिर काँटों कैसे परिकर
बदल यों विविध वेश जलधर
बनाते थे गिरि को गजवर !

इस प्रकार के आलंकारिक चित्रणों में सांग रूपक का चित्र देखिये—

खैंच एचीले भ्रू सुरचाप
शैल की सुधि यों बारंबार
हिला हरियाली का सुदुकूल
भुला झरनों का झलमल हार !
जलद पट से दिखला मुखचन्द्र
पलक पल-पल चपला के मार;
भग्न उर पर भूधर सा हाय
सुमुखि धर देती है साकार !

उपमान के रूप में भी पंत ने प्रकृति का पर्याप्त चित्रण किया है। सौंदर्य वर्णन में प्रकृति के क्षेत्र से ही उपमान ग्रहण किए गये हैं। कहीं कहीं रूप साम्य की अपेक्षा अरूप सादृश्य स्थापित किया गया है। प्रेयसी के स्वभाव का चित्रण कवि इस प्रकार करता है—

ऊषा का था उर में आवास
मुकुल का था मुख में मृदुल विकास
चाँदनी का स्वभाव में वास !

प्रकृति पर दर्शनिकता का आरोप भी किया गया है। वह प्रकृति के पीछे किसी अगोचर सत्ता की झलक देखता है और विस्मय तथा कौतूहल के साथ उस सत्ता को जानने का प्रयत्न सा करता है। वह बाल विहंगिनि से पूछ ही बैठता है—

प्रथम रश्मि का आना, रंगिणि
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ कहाँ है बाल विहगिनि।
पाया तूने यह गाना !

प्रभात की प्रथम रश्मि के स्पर्श से ही विहंगिनी के कण्ठ से गीतियाँ फूट

निकलती हैं कितने भावुक हृदयों ने इस बात का अनुभव किया होगा। यही अनुभूति जब गहरी हो जाती है तब कवि प्रकृति में एक रहस्यमय आकर्षण का अनुभव करने लगता है और एक करुण विस्मय में विभोर होकर कह उठता है—

क्षुब्ध जल शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथकर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना बिथुरा देती अज्ञात,
उठा तब लहरों से कर मौन
न जाने मुझे बुलाता कौन ?

पंत जी की कविता में ऐसे उदाहरण राशि राशि मिलेंगे। कवि प्रकृति के माध्यम से दार्शनिक सिद्धान्तों को व्यक्त करता हुआ लिखता है—

अतल से एक अकूल उमंग
सृष्टि की उठती तरल तरंग,
उमड़ शत शत बुद बुद संसार
बूड़े जाते निस्सार !

प्रकृति के विभिन्न दृश्यों से वह जीवन की नश्वरता एवं अस्थिरता का संदेश प्राप्त करता है—

आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी साँस।

कोमल प्रकृति के सूक्ष्म स्पन्दनों की पंत जी को दिव्य अनुभूति है। जब प्रकृति के लीलाक्षेत्र में नव बसन्त का आगमन होता है तव कवि का हृदय भी एक नवीन राग और उल्लास से भर जाता है। प्रत्येक चित्र उसकी आँखों के द्वार से सीधा आत्मा तक पहुँच जाता है—

लो चित्र-शलभ सी पंख खोल
उड़ने को है चित्रित घाटी,
यह है अल्मोड़े का बसन्त
खिल पड़ी निखिल पर्वत-पाटी।

यदि एक ओर वह पुंज पुंज विहगों को देखकर हर्ष विभोर हो उठता

है—

विहग, विहग,
फिर चहक उठे ये पुंज पुंज
चिर सुभग-सुभग

तो दूसरी ओर छाया के संश्लिष्ट चित्र में छाया को तरु के नीचे एकाकिनि देखकर उसकी अवस्था पर दयार्द हो जाता है—

कहो, कौन हो दमयन्ती-सी
तुम तरु के नीचे सोई
हाय तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि नल-सा निष्ठुर कोई।

कितनी दीन वेदना है कवि की—

अहा ! अभागिनि हो तुम मुझ-सी
सजनि ! ध्यान में अब आया
तुम इस तरुवर की छाया हो
मैं उनके पद की छाया।

कभी वह लहरों को उठता देखकर उसके 'स्वर्गीय-हुलास' उसके जग का अविदित उल्लास में अपने को निमग्न कर देना चाहता है। लहर से वह कहता है—

अरी सलिल की लोल लहर
× × ×
आ मेरे मृदु अंग झकोर
नयनों को निज छवि के बोर
मेरे उर में भर यह रोर !

इस एकमात्र भाव में कैसा दिव्य आनन्द फूट पड़ा है।

प्रकृति के प्रतीक विधान और सांगरूपक के अनुसार व्यापक क्रिया वर्णन भी कवि ने किया है। 'प्रतीक विधान' आधुनिक कविता की एक प्रमुख विशेषता है, जो हमारा सारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। प्रकृति शिक्षिका के विषय में वे लिखते हैं—

किसी के उर में तुम अनजान
कभी बँध जाती बन चितचोर,

अधखिले-खिले—सुकोमल गान,
गूँथती हो फिर उड़ उड़ भोर !

कज़ामियाँ द्वारा वर्डस्वर्थ को कहे गए शब्द हम पंत पर भी लागू कर सकते हैं। क्योंकि कवि पंत के हृदय का सौंदर्य-विकास प्रकृति के संसर्ग से ही हुआ है। Cazamian ने Wordsworth के बारे में कहा है—

To wordsworth nature appeals a formative influence superior to any other, the education of senses and mind alike, the soul in our hearts of the deep laid seeds of our feelings and beliefs

गुजंन का विहग सूनी प्रकृति को, सूने जीवन को और जगत को अपने गानो से मुखरित करता है—

सुप्त जग में गा, स्वप्निल गान,
स्वर्ण में भर दो प्रथम प्रभात।

पंत जी कहीं-कहीं प्राकृतिक दृश्यों के आधार पर चिंतन भी करने लगते हैं, जैसे रूप की नश्वरता पर लिखते हैं—

हम नहीं हैं नश्वर
सत्ता का वह पूर्ण प्रकृत स्वर।

इसी प्रकार झरते हुए कुसुम को देखकर वे लिखते हैं—

चिरपूर्ण नहीं कुछ जीवन में
अस्थिर है रूप जगत् का मद,
बस आत्म त्याग जीवन विनिमय
इस सन्धि जगत् में है सुखप्रद।

साथ ही वसन्त के आगमन की आशा भी है—

झरते हों, झरने से पत्ते—उसे न किंचित्।
नभ मुकुल मंजरियों से भव होगा शोभित।

प्रकृति वर्णन में पंत जी बड़े सिद्धहस्त-कलाकार हैं। 'वीणा' के प्रकृति चित्रणों के लिए आधुनिक कवि की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"वीणा के चित्र प्रकृति के प्रति मेरे अगाध मोह के साक्षी हैं, प्राकृतिक चित्रणों में प्रायः मैंने अपनी भावनाओं का सौंदर्य मिलाकर उन्हें ऐन्द्रिक चित्र बनाया है।" जल पर पड़ी हुई सन्ध्या की ललिमा और उसके स्थान पर आने वाले अंधकार की

हल्की नीलिमा का चित्रण सुन्दर बन पड़ा है—

लहर पर स्वर्ग रेख सुन्दर पड़ गई नील,
ज्यों अधरों पर अरुणाई प्रखर शिशिर से उर !

कवि जुँगनू के लिए कहता है—

हरियाली घाटी में सहसा
हरित स्फुलिंग सदृश फूटा वह ।

इन पँक्तियों में प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण किया गया है । वातावरण के चित्रण में भी पंत जी निपुण हैं । प्रशान्त नीरव संध्या में डूबे हुए ग्राम का वर्णन देखिए—

नीरव संध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त ।
पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर ।
खग कूजन भी हो रहा लीन, निजन गोपथ अब धूलि-हीन
धूसर भुजंग सा जिह्म क्षीण ।
झींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशान्त को रहा चीर,
सन्ध्या प्रशान्त को कर गंभीर ।
इस महाशान्ति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्णधार,
ज्यों बेध रही हो आर-पार !

कहीं कहीं पर वस्तु परिगणन की शैली भी अपनाई गई है । चित्रात्मक प्रणाली का अनुकरण करके प्रकृति के बड़े रम्य चित्र उतारे गए हैं । पर्वतीय प्रकृति के सैकड़ों सुन्दर चित्र उनके काव्य में भरे पड़े हैं । लैंडस्केप उतारने में भी पंत जी अत्यन्त सफल हैं । चाँदनी रात्रि में गंगा का चित्र अंकित करते हुए 'नौका विहार' में वे लिखते हैं—

शान्त, स्निग्ध, ज्योत्सना उज्ज्वल ।
अपलक अनन्त, नीरव भूतल ।
सैकत शय्या पर दुग्ध-धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म-विरल,
लेटी है शान्त, क्लान्त निश्चल ।
तापस-वाला गंगा निर्मल, शशि मुख से दीपित मृदु-करतल,
लहरें उर पर कोमल कुन्तल ।

गोरे अंगों पर सिहर सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर,
चंचल अंचल सा नीलाम्बर ।
साड़ी-सी सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल, मृदुल लहर !

जिस प्रकार शेली ने 'स्काईलार्क' से प्रार्थना की थी—

"Teach me half thy gladness.
That thy brain must know
Such harmonious madness.
From my lips, would flow.
The world listen then
As I am listening now."

ठीक उसी प्रकार पंत जी भी कामना करते हुए दिखाई देते हैं—

"गा सके खगों सा मेरा कवि
विश्री जग की संध्या की छवि ।
गा सके खगों सा............
फिर हो प्रभात, फिर आये रवि ।"

प्राकृतिक वस्तुओं के रूप, रंग, ध्वनि, गंध, गति का उन्हें पूर्ण ज्ञान था और यथारूप चित्रण उनके प्रकृति काव्य की विशेषता है । उनके ध्वनि, गंध वर्ण और गति-ज्ञान का एक एक उदाहरण यथेष्ट होगा—

ध्वनि ज्ञान—'कभी अचानक भूतों का सा प्रकटा विकट महाआकार
कड़क-कड़क जब हँसते हम सब, थर्रा उठता है संसार ।

गंध ज्ञान—'मिट्टी की सोंधी सुगंध से
मिली सूक्ष्म सुमनों की सौरभ ।'

वर्ण ज्ञान—'रूपहले, सुनहले आम्र-बौर

× × ×

बन के बिटपों की डाल-डाल
कोमल कलियों से लाल लाल ।
फैली नव मधु की रूप ज्वाल'

गति ज्ञान—झूम झूम झुक झुक कर
भीम नीम तरु निर्झर
सिहर सिहर थर थर थर
करता सर मर
चर मर !

पंत जी के काव्य में प्रकृति पहले सब कुछ थी, मानव केवल मात्र उसका उपासक था परन्तु आज पुरुष प्रधान हो गया है और प्रकृति गौण। अब पुरुष प्रकृति के लिए आकुल नहीं वरन् प्रकृति ही पुरुष के लिए आकुल है। परन्तु साधारणतया प्रकृति के सुन्दर और कल्याणमय काव्य रूप ने ही उसे अधिक लुभाया है।

प्रकृति का चेतनीकरण और मानवीकरण पंत के प्रकृति के मानव-तत्व का प्रतीक है। कल्पना के सूत्र के सहारे तारों और नक्षत्रों से लेकर सागर के गहने तल में वह भाव-मुक्ता लाने का प्रयास करते हैं और उसे अपनी माँ-भारती के हृदय पर सजाते हैं। पंत प्रकृति के उपासक और चित्रकार हैं। वह उन्हें देवी, माँ, सहचरी एवं प्रियतमा बनाकार सम्मोहित करती है, इसके फलस्वरूप कवि का तादात्म्य इतना बढ़ जाता है कि सूक्ष्म संगठन को भी उन्होंने मानवीय रूप, व्यापार और भावानुभूति का दान दिया है। पंत ने प्रकृति को प्राणमयी चित्सत्ता देवी माना है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम यह सकते हैं कि पंत जी के काव्य में प्रकृति सौन्दर्य नाना रंग और बहुमुखी वेषभूषा धारण कर उद्घाटित हुआ है। इन चित्रणों में प्रकृति के कोमल एवं अनुरंजनकारी स्वरूप की ही प्रधानता है। पंत जी के संपूर्ण काव्य में प्रकृति का स्थान अप्रतिम है। श्री फूलचन्द पाण्डेय का कथन पंत जी के लिए अक्षरशः सत्य है कि—'प्रकृति ही में पारस की शक्ति भर गई थी, जिसे छूकर पंत का कवि अमर हो गया।' साथ ही पंत की प्रतिभा प्रकृति के रम्य प्रांगण में अठखेलियाँ करती हुई दृश्य जगत के नाना रूपों और अगोचर व्यापारों को उद्घाटित करती है। कवि ने प्रकृति के सूक्ष्म स्पन्दनों की धड़कन सुनी है और छायावाद तथा आध्यात्म-चिंतन के मोह से झलमल छाया प्रकाश का साभ्रम अपनी काव्य कृतियों में उत्पन्न किया है।

# प्रगति एवं प्रयोगवादी काव्य में गीति भावना के स्वर

छायावादोत्तर में सामाजिक यथार्थ और वैयक्तिक निराशा के स्वर उभर पड़े थे। ये स्वर कवि की संवेदना और युग की चेतना से तीव्रतर ही होते गए। अपनी बदलती हुई परिस्थितियों के सापेक्ष्य में, अपने अस्तित्व के प्रति बढ़ते हुए मोह में इनका दृष्टिकोण भी बदल गया। अतीन्द्रिय लोक में रमने वाला प्रेम और सौंदर्य छायावाद के थोथे आडम्बर से मुक्त होने लगा। धर्म संस्कृति ससीम-असीम और लौकिक तथा आध्यात्मिक आदि के अमूर्त रूप भौतिक मापदंड पर व्यर्थ सिद्ध हुए। परिणामत: नए कलाकार सौंदर्य की अराधना छोड़कर यथार्थ की खुरदुरी भूमि पर आ गए। जीवन के संघर्ष उनके काव्य के उपादान बने। वे सर्वात्मवाद से मानवतावाद की ओर अग्रसर हुए। इस प्रकार छायावाद के विरोध की प्रतिक्रिया 'प्रगतिवाद' के नाम से सम्बोधित की गई।

प्रगतिवादी कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर विश्वास करता है। मार्क्स के विचार से पदार्थ मस्तिष्क की कृति नहीं है, वरन् मस्तिष्क ही पदार्थ का उच्चतम सृजन है।[1] वह आदर्श को भी भौतिकता से भिन्न कोई वस्तु नहीं मानता।[2] वह प्रगतिवादी जीवन के प्रति एक सामाजिक और यथार्थ दृष्टिकोण

1. The material sensuously perceptible world to which we ourselves belong is the only reality, our Consciousness and thinking however supersensuous they may seem are the product of a material bodily organ the brain. Matter is not a product of mind but mind it self is merely the highest product of matter.

—Karl Marx. quoted by J. Stalin in his essay—'On his and Dialectical Materialism. page 20.

2. 'With me the ideal is nothing else than the material world reflected by the human mind and translated into forms of thought'.

—Karl Marx. The Capital. Vol. I.

रखता है उसका लक्ष्य-वर्ग-श्रेणी विहीन साम्यवाद की स्थापना है जो मानव में भेद नहीं उत्पन्न करती। इसका गीति भावना पर बहुत प्रभाव पड़ा और काव्य की भावना दो वर्गों में गीति तत्वों को लेकर अग्रसर हुई, एक 'मार्क्सवादी काव्य' हुआ और दूसरा 'प्रगतिवादी काव्य।'

मार्क्सवादी काव्य के भी दो रूप हुए। एक वह जो अपने सिद्धान्तों और सूत्रों को पद्य-बद्ध करता है दूसरा वह जो उपेक्षित सर्वहारा वर्ग के भावों को बौद्धिक जागरूकता से चित्रित करता है। उनके चित्र स्पष्ट होने के कारण हमारी वितृष्णा को उभारते हैं—'युग की गंगा' में केदारनाथ अग्रवाल ने ऐसे ही एक चित्र को प्रस्तुत किया है—

शहर के छोकड़े
मैले, फटे, बदबूदार वस्त्र पहने
बिना तेल कंघी के
रूखे उलझाए बाल,

नंगे पैर
नंगे सिर
कीचड़ लपेटे तन
गलियों में घूमते हैं,
खाली जेब
खोंचे के पास बैठ
स्वाद लेते हैं खूब चाट का चीखे बिना।

स्पन्दनहीन निष्प्राण जीवन का कितना यथार्थ चित्र है यह। कहीं कहीं पर शोषित चेतना को प्रेरणा भी मिली है। देखिए नेमिचन्द्र जैन का यह प्रयास—

हैं कदम मज़बूत
अब भी बढ़ रहा है गरज़ता
इस देश के लाखों मज़दूरों का
करोड़ों ही किसानों का अतुल विक्षुब्ध परिवार—
अब नहीं है लौटती खाली हमारी
मुक्ति की हुंकार,

आज प्रतिध्वनि में उधर से गूंज उठता है
गरज कर बढ़ रही, विद्भुत्वरा से
दस्यु दल बल को कुचलती
लाल सेना की विजय का वज्र जयजयकार।

जैन जी की इस कविता में आत्मकुंठित बुद्धिजीवियों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का हुंकार भरा क्रन्दन ही है। गीति की दृष्टि से न इसमें आवेग है और न अनुभूति। वैयक्तिक भावों के अभाव में बौद्धिक चेतना गीति सृष्टि नहीं पाती।

**प्रगतिशील काव्य** :—शोषित वर्गीय अनुभूतियों के साथ प्रगतिशील कवियों ने राष्ट्रप्रेम, प्रकृति तथा लोक भावनाओं को भी नवीन मान्यताओं के आलोक में समझने और व्यक्त करने की चेष्टा की है। इन गीति रूपों में संवेदना गीति, राष्ट्रीय गीति, प्रेम गीति, प्रकृतिगीति व लोकगीति प्रमुख हैं।

**संवेदनागीति** :—प्रगतिवाद ने कवियों की अन्तर्मुखी चेतना को वाह्य समस्याओं की ओर उन्मुख किया है। आज वह मानव हित को अपने निजत्व की सीमा में समेट लेना चाहता है। रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के शब्दों में "नए युग की नई चेतना ने उन्हें आर्थिक व्यवस्था की प्रेरक और चालक शक्तियों से जूझने की प्रेरणा देकर समष्टि कल्याण का हामी बना दिया है।" सर्वहारा वर्ग की चेतना को उदबुद्ध करना, पूंजीवाद की जड़ों को नष्ट करना, प्रगतिशील साहित्य सृजन का मूल ध्येय है। कवि दिनकर निर्धन और धनी जीवन के वैषम्य को देखकर 'चक्रवाल' में अनायास कह उठते हैं—

कब्र कब्र में अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती है,
दूध-दूध की कदम-कदम पर सारी रात सदा होती है,
वे भी यहाँ दूध से अपने स्वानों को नहलाते हैं,
वे बच्चे भी यहीं कब्र में दूध-दूध जो चिल्लाते हैं।

'पंत' जी की 'ग्राम्या' में ऐसे अनेक चित्र हैं। जूठे पत्ते चाटते देखकर 'नवीन' की करुणा क्रोध के आवेश में ललकार उठती है—

क्या देखे हैं तुमने नर को नर के आगे हाथ पसारे।
क्या देखा है तुमने उसकी आँखों के खारे फव्वारे।
देखे है फिर भी कहते हो कि तुम नहीं हो विप्लवकारी।
तब तो तुम पत्थर हो, या हो महाभंयकर अत्याचारी॥

'नरेन्द्र' मनु के सपूतों को पुनः जाग्रत कराते हुए कहते हैं—

जागो पहचानो अपने को
मानव को समझो निज गौरव,
अन्तस्थल की आँखें खोलो
देखो निज अतुलित बल वैभव।

प्रगतिवादी कवियों ने जीवन के स्वाभाविक विकास का पथ प्रशस्त कर उसे लौकिक कल्याण की ओर अग्रसर किया है और साम्यवादी स्वप्न की पूर्ति हेतु ओज भरे प्रेरणा गीत गाए हैं। 'पंत' जी का 'उद्बोधन' अपनी अनुभूति और आवेग में स्फूर्तिदायक है :—

इस विश्री जगत् में कुत्सित
अंतर चितवन से चुन-चुन कर
सार भाग जीवन का सुन्दर
मानव भावी मानव के हित
जीवन पथ पर जाओ ज्योतित।

**राष्ट्रीयगीति** :—प्रगतिवादी देश-प्रेम की भावना का मूल आधार सामाजिकता है जिसमें है 'राष्ट्र की कल्पना' जो सतत् आगे बढ़ने की शक्ति देती है। कवि राष्ट्रीयता के नाम पर मानव-मानव में सौहार्द जाग्रत करना चाहता है। उसकी राष्ट्रीयता की पुकार मानवता की पुकार है। इस युग का आशावादी कवि भविष्य को गौरवमय समझते हुए ही कहता है। 'सतरंगे पंखों वाली'—शीर्षक कविता में नागार्जुन ने लिखा है—

अन्न वस्त्र दा
सुखदा शुभदा
प्राणों से भी बढ़कर प्यारी
हिम किरीटनी
जलधि पजनी
बने स्वर्ग यह भूमि हमारी।

आज के कवि को ग्राम और जनपद प्यारा है। वह उसे सम्पन्न देखना चाहता है। वह समाज की समस्याओं पर विचार करते हुए शासन की अक्षमताओं की निर्भीकता से आलोचना करते हुए कहता है—

आज़ादी की कलियाँ फूटीं पाँच साल में होंगे फूल
पांच साल में फल निकलेंगे, रहे पंत जी भूला भूल,
पाँच साल कम खाओ भैया, गम खाओ दस पन्द्रह साल,
अपने ही हाथों से झोंको यों अपनी आंखों में धूल।

—नागार्जुन

वस्तुतः लोक-नैकट्य के कारण कवियों के गीत व्यापक, आशावादी और मर्मस्पर्शी अधिक हो सके हैं। यदि ये गीत राष्ट्रीय एकता की भूमि पर समाप्त हो पाते तो राष्ट्रीय गीतों की शक्ति अप्रतिम हो जाती।

**प्रणयगीत** :—प्रगतिवाद की दृष्टि में स्वतन्त्र प्रेम केवल वही है, जो आर्थिक शोषण और दबाओं से मुक्त हो। वह अकर्मण्य बना देने वाली वासना के स्थान पर प्रेरणादायिनी स्फूर्ति का भाव है, क्योंकि वह नारी को मुक्त, स्वतन्त्र, स्वावलम्बिनी श्रमशीला सहचरी के रूप में देखता है विहीन समर्पण मात्र नहीं। 'त्रिलोचन' का परिचय कितना मर्मस्पर्शी बन पड़ा है देखिए—

यों ही कुछ मुस्कराकर तुमने
परिचय की वह गांठ लगा दी
था पथ पर मैं भूला भूला
फूल उपेक्षित कोई फूला
जाने कौन लहर थी उस दिन
तुमने अपनी याद जगा दी
कभी कभी यों हो जाता है
गीत कहीं कोई गाता है
गूंज किसी उर में उठती है
तुमने वही धार उमगा दी।

इसमें सच्ची प्रेम भावना है कोई कुंठा या दुराव की भावना नहीं। 'पर आंखें नहीं भरीं' शीर्षक कविता में डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन' भी लौकिक रूप की भंगिमा को अंकित करते हैं, जिसे देखकर तृप्ति नहीं होती। कवि कहता है—

कितनी बार तुम्हें देखा पर आँखें नहीं भरीं,
सामित उर में चिर असाम सौंदर्य समा न सका
बीन मुग्ध बेसुध कुरंग मन रोके नहीं रुका

यों तो कई बार पी पी कर जी भर गया छका
एक बिन्दु थी किन्तु न जिसकी तृष्णा कभी मरी।'

कितना आह्लाद पूर्ण है प्रेम का संयोग पक्ष। 'नींद के बादल' में केदारनाथ अग्रवाल ने जन जीवन की स्वच्छन्दता का उन्मुक्त समर्पण दिखाया है—

हम दोनों का प्यार रहे—
तरु में प्रेम विकार लता में
पुलक वासना भार रहे
हम तुम दोनों को मदविह्वल
चुम्बन का अधिकार रहे।

प्रगतिवादी प्रेम का दूसरा पक्ष भी है जहां वह यौवन सुलभ काम वासना एवं भोगवृत्ति को प्राकृतिक क्षुधा के रूप में स्वीकार कर यथार्थ के नाम पर तज्जन्य अनुभूतियों की मुक्त अभिव्यंजना दिखाता है। पूँजीवाद का पर्दाफाश करते हुए नग्न उच्छृंखलता को प्रश्रय दिया गया है—

आओ नहायें
छत से फुहार झरे
खड़े रहें आँख मींच
कभी कभी चुपके से देखें, घुल रही धूल
थकी पिंडलियों को
थके थके एक दूसरे को उघारे देखें
और न शरमायें

—(प्रतीक, नवम्बर १९५१)

ऐसे सस्ते रोमांस विकृत मनोवृत्तियों का परिचय देते हैं। यह युग प्रेम स्फूर्ति और प्रेरणा का स्त्रोत है। 'विश्वास बढ़ता ही गया' शीर्षक 'सुमन' जी का गीत इसका साक्षी है देखिए—

मैं बढ़ा ही जा रहा हूं पर तुम्हें भूला नहीं हूँ
चाहता तो था कि रूक लूँ पार्श्व में क्षणभर तुम्हारे
किन्तु अगणित स्वर बुलाते हैं मुझे बांहें पसारे
अनसुनी करना उन्हें भारी प्रवचन का पुरुषता
मुंह दिखाने योग्य रक्खेगी न मुझको स्वार्थपरता
इसलिए ही आज युग की देहली को लांघकर मैं
पथ नया अपना रहा हूं पर तुम्हें भूला नहीं हूँ

इसी उदार विशालता को लेकर नए युग का प्रेम-काव्य पल्लवित हो रहा है।

**प्रयोगवाद** :—प्रगतिवाद के बाद की काव्य प्रवृत्ति को 'प्रयोगवाद' की संज्ञा मिली। प्रयोगवाद ने छायावादी असामान्य, दुरुह एवं अतिकलात्मक शिल्प विधि को अधिक स्वाभाविक एवं परिचित भूमियों पर विकसित करने की चेष्टा की। प्रयोगवाद ने मानवतावाद, अतियथार्थवाद व प्रभाववाद को महत्व दिया। प्रगतिवाद का सामाजिक विक्षोभ अन्तः प्रेरणोद्भूत और युग चेतनानुकूल था, पर प्रयोगवादियों का विरोध व्यापक स्तर पर तीव्र न होकर वैयक्तिक सीमा में प्रायः काव्य के मूलभूत तत्वों, अनुभूति व प्रेषणीयता आदि की उपेक्षा कर उठा है। इसी काव्य से प्रगतिवाद की अपेक्षा प्रयोगवाद का काव्य अधिक शुष्क, बौद्धिक और गद्यात्मक होता गया।

'प्रयोग' विकास का सूचक है। 'तार सप्तक' के प्रकाशन के साथ इसकी प्रतिष्ठा हुई। 'प्रयोग' अपने आप में इष्ट नहीं है। आज आधुनिक युग में तीव्रता से परिवर्तन हो रहे हैं। नई समस्याएँ पैदा हो रही हैं। नई दृष्टि, नए मापदंड निर्धारित किए जा रहे हैं प्रयोग का क्षेत्र वस्तु, शिल्प एवं भाषा तीनों ओर है। प्रयोगवाद जीवन के वैषम्य को ग्रहण कर मानवतावादी दृष्टिकोण को विकसित करता है। आज मानव को मानव का स्वर और मानवीय गरिमा देना अत्यन्त आवश्यक है···इस नए मानव की कल्पना कितनी भव्य है।[1] आज नया कवि यथार्थता के आग्रह से भाव को मनोविज्ञान के धरातल पर ग्रहण करता है क्योंकि व्यक्ति और उसकी परिस्थिति में इतना कम सामन्जस्य और इतना तीखा विरोध कभी नहीं हुआ। आज उस विरोध की कवि के मन पर गहरी छाप है। इतनी गहरी कि वह उसे सीधे सीधे व्यक्त भी नहीं कर पाता है। केवल एक संकेत देता है, जिससे हम आगे बढ़कर उसे देख सकें।[2] आज वह अर्धमुक्त मनोदशाओं और लोक से परे असामान्य वैयक्तिक अनुभूतियों को बुद्धि से स्पष्ट करने के प्रयास में गहरे असामन्जस्य की सृष्टि कर सकता है जिससे चित्त द्रवित नहीं हो पाता। शमशेरबहादुरसिंह के हृदय की विषाद रेखाएँ देखिए—

१. नई कविता—डा० जगदीशगुप्त, अंक ४, १६५६,

२. आत्मनेपद—अज्ञेय

लुढ़की सुराही, तो
हुचक-हुचक पानी ढ़रा
गर्द भरे खुदे हुए फर्श पर चुपचाप
देख-देख मन कैसा हुआ।
मेरी सुराही थी
मेरी असावधान ठोकर में पड़ी
गह-गह हुचक रही थी।
एक साँस रोक, बढ़ा-सीधा करने अपना
मुँधा हुआ पात्र
पर सुबह-सुबह ? फैला जो मन का विषाद
वह कहाँ ढका गया?

वर्णन और विचार का आग्रह मात्र इसमें अंकित है क्योंकि कवि में सहजानुभूति की क्षमता नहीं है और कवि अन्य प्रयोगवादियों की भांति ही विशेषीकरण की ओर उन्मुख है। एक पुराना प्रेम-पत्र मन में कैसे भाव जगाता है इसका चित्र दूसरे सप्तक के कवि रघुवीर सहाय के शब्दों में देखिए—

मैं कभी-कभी कमरे के कोने में जाकर
एकान्त जहाँ पर होता है,
चुपके से एक पुराना कागज़ पढ़ता हूँ
मेरे जीवन का विवरण उसमें लिखा हुआ
वह एक पुराना प्रेम-पत्र है जो लिखकर
भेजा ही नहीं गया, जिसका पाने वाला
काफी दिन बीते गुज़र चुका।

गीति की दृष्टि से इस सिद्धान्त पक्षीय काव्य में सहज आत्मानुभूति की जगह कुंठित उलझी संवेदना, भाव के आवेग के स्थान पर बुद्धि की शुष्क विवेचना एवं कल्पना की अपेक्षा इतिवृत्तात्मक यथार्थ अधिक मुखर है।

प्रयोगवादी गीति धारा पर पूर्ववर्ती छायावादी, उत्तरछायावादी एवं प्रगतिवादी तीनों धाराओं का प्रभाव है। इसने तीनों से क्रमशः रोमाँस, वैयक्तिकता एवं सामाजिक चेतना ग्रहण की। इसीलिए प्रयोगवादी गीतिकाव्य तीनों का समन्वित रूप है।

**संवेदनागीति** :—प्रेरणा के जो तीखे स्वर प्रगतिवाद के काव्य में उभरे

थे उनकी शक्ति से आज का शोषित वर्ग जागकर विद्रोह के पथ पर बढ़ चला है। दलितों की क्रान्ति-भावना गीतकार के तीव्र क्षोभ की सशक्त व्यंजना करती है। अज्ञेय के शब्दों में पूँजीपतियों के प्रति घृणा किस प्रकार मुखारित हुई है देखिए—

सुनो तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान,
तुम जो बड़े-बड़े गद्दों पर ऊँची दूकानों मे
उन्हें कोसते हो जो भूखों मरते खानों में
तुम जो रक्त चूस ठठरी को देते हो जलदान,
तुम जो मंदिर की वेदी पर डाल रहे हो फूल,
और इधर कहते जाते हो, जीवन क्या है रे धूल,
तुम जिसकी लोलुपता ने ही धूल किया उद्यान,
तुम सत्ताधारी मानवता के शव पर आसीन,
जीवन के चिर रिपु विकास के प्रतिद्वन्दी प्राचीन
तुम शमशान के देव। सुनो यह रणभेरी की तान।

दलित-वर्ग में आत्म-विश्वास भर देना ही संवेदना गीतियों का आदर्श है।

**राष्ट्रीयगीति** :—इस दिशा में गिरिजाकुमार माथुर, डा० धर्मवीर भारती, शमशेर बहादुर सिंह, प्रभाकर माचवे के गीत मिलते हैं जो प्रेरणा स्वरों को और तेज कर देते हैं—'धूप के धान' में माथुर साहब ने लिखा है—

आज जीत की रात
पहरूए सावधान रहना,
खुले देश के द्वार
अचल दीपक समान रहना,
ऊँची हुई मशाल हमारी
आगे कठिन डगर हैं,
शत्रु हट गया लेकिन उसकी
छायाओं का डर है,
शोषण से मृत है समाज
कमजोर हमारा घर है
परन्तु आ रही नई जिन्दगी
यह विश्वास अमर है।

प्रभाकर माचवे का गीत भी सुन्दर है। वह धरती के माँ रूप की उद्भावना का पोषण निर्माण के स्वर (कविता संग्रह) में करते हैं—

कहलाती है धरती माता
× × ×
वह भूखी श्रमरस की,
धरती माता, आश्रय दाता
बेकस की बेबस की

धरती पूजन में श्रम की चन्दन, अक्षत, रोली
धरती के अर्चन में श्रम पुष्प आरती-थाली
× × ×
धरती का पूजन ही पूजन
धरती ही जन-जन का जीवन
यही मृत्तिका तीरथ प्रयाग-काँची-काशी
काया कांची, मिट्टी है अविनाशी !

निर्माण का स्वर योगेन्द्र त्यागी की कविता में और भी अधिक सुन्दर रूप से उभर सका है देखिए—

हे मेरे देश ! निराश न हो अब फिर तेरा,
वह खण्डहर वाला रूप संवरने वाला है।
स्वर्णिम अतीत के नष्ट हुए अवशेषों पर,
नव-निर्माणों का चित्र उभरने वाला है।

**प्रेमगीत** :—प्रेम प्रयोगवाद का प्रिय विषय है। प्रयोगवाद ने प्रेम के अनिवार्य उपभोग पक्ष को लौकिक धरातल पर स्वीकार कर प्रणय को अधिक स्वाभाविक बनाने की चेष्टा की है। दूसरे सप्तक का एक गीत देखिए—

इन फीरोज़ी होठों पर
बरबाद मेरी ज़िन्दगी

तुम्हारे स्पर्श की बादल धुली कचनार नरमाई,
तुम्हारे वक्ष की जादूगरी मदहोश गरमाई,
तुम्हारी चितवनों में नरगिसों की पात शरमाई,
किसी भी मोल पर मैं आज अपने को लुटा सकता,

ऐसे गीतों में आवेग और मांसलता अधिक है पर साथ ही स्पष्टता और रोमाँस का पुट भी है जो मर्मस्पर्शी है।

प्रयोगवाद सौंदर्य के आकर्षण को स्वीकार करता है। उसके गीतों में मानवीय छवि है। प्रिय आगमन का उल्लास कितना चित्रात्मक और प्रभावपूर्ण होता है 'नांव के पाँव'—शीर्षक संग्रह में जगदीश गुप्त द्वारा अंकित है देखिए—

यह तुम नहीं आए
लगा जैसे सुरभि ने
स्निग्ध प्राणों पर
जुही के, इन्द्रबेला के, कमल के,
ओस भीगे, पारिजाती फूल बरसाये,
झुटपुटे में साँझ के चूनर पहन
किसी नतशिर बधू ने,
अरूण मेंहदी रचे हाथों से जला,
नील यमुना की लहरियों पर
पाँत में रख मौन घी के दीप तैराए
हृदय को, मन को, नयन को
इस तरह भाए।

इसी प्रकार गिरिजाकुमार माथुर ने बड़ी नाजुक ख्याली के साथ लाज की लाली, मसले फूल और सेज की सिलवटों को चित्रित किया है—

नैन हुए रतनार गुलाब से अंग खिले कचनार कली से
फूले पलाश सी
पूनम आई
चाँद के अंक में
रैन समाई
कुंद कपोल में
फैली ललाई
केसर चुबंन से हुए रंजित अलसित तन चिकने कदली से
कर में मसल गए
फूलों के कंगन
रंजित तन पै

मसल गए फागुन
उभरे लिपट कर
चार सुहावन

छिटकी चमेली सी भुजबंधों में चमके नयन हँसती बिजली से !

प्रयोगवादी काव्य में अधिकाँशत: मनोवैज्ञानिक सत्य, बौद्धिक विवेक, कुत्सित यथार्थ और कलात्मक चमत्कार को प्रधानता देने के कारण अनुभूति और भाव के स्वर निर्मूल होते जान पड़ते हैं। प्रयोगवाद ने प्रतीकों और बिम्बों को काव्य में स्थान दिया है। जिससे काव्य की गीति भावना स्वस्थ दिशा की ओर अग्रसर हो सकी।

# नयी कविता : एक सर्वेक्षण

नयी कविता की सुरीली बाँसुरी में परम्परा और विद्रोह दोनों के स्वर पाये जाते हैं। सन् १९३५ ई० के आसपास छायावाद की परिणति सम्पन्न हो चुकी थी और उसके पश्चात् ही हिन्दी काव्यधारा नयी दिशाओं की ओर मुड़ी। हिन्दी-साहित्य में छायावाद गौरव का कारवाँ लेकर आया और अपनी विभा से दिगंत को दीप्त करता हुआ चला गया। इसके परवर्तीकाल में काव्य के लक्ष्य अनेकात्मक हो गए, और विभिन्न प्रेरणाओं के सामंजस्य के कारण काव्य के क्षेत्र में एक उच्चतर धरातल की सिद्धि न हो पाई। छायावाद आया और चला गया, न तो यह अकारण आया था और न अकारण गया ही, जाने के पूर्व वह हमें कुछ दे गया, परन्तु वह आज पर्याप्त नहीं, इसी अभाव की पूर्ति के लिए काव्य के नए उत्थान की अभिलाषा बढ़ी और द्वन्द्वात्मक परिस्थिति में पहले प्रगतिवाद का बोलवाला रहा, कालान्तर में 'नयी कविता' का जन्म हुआ।

वस्तुतः नये प्रकार की कविताएँ 'अज्ञेय' के सम्पादकत्व में 'तारसप्तक' में प्रकाशित हुईं तो उनके रूप, शिल्प सम्बन्धी नवीन प्रयोगों को देखकर कवियों के वक्तव्यों तथा 'तारसप्तक' के सम्पादकीय में प्रयुक्त 'प्रयोग' शब्द के बार-बार व्यवहार से हिन्दी के आलोचकों ने इस नवीन काव्यधारा का नाम ही 'प्रयोगवाद' रख दिया। इन नए कवियों में नवीन प्रयोग की प्रवृत्ति तीव्र थी। कुछ दिनों बाद इसे ही 'नयी कविता' कहना आरम्भ कर दिया गया। मेरे विचार से 'प्रयोगवाद' तथा 'नयी कविता' में किसी प्रकार की भिन्नता स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि प्रारम्भ में जिस धारा का नाम प्रयोगवाद था कालान्तर में वही 'नयी कविता' के अभिधान में आई। सम्भवतः ऐसा हो सकता है जब प्रयोदवादियों की अत्यधिक भर्त्सना हुई, तब ये ही लोग अपनी कविता को 'नयी कविता' का परिधान पहिनाकर साहित्य जगत में लाए।

प्रयोगवादी 'नयी कविता' के उद्भव और विकास का विश्लेषण करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है कि 'शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त में हिन्दी के

कवियों में छायावाद के भावतत्व और रूप आकार दोनों के प्रति एक प्रकार का असन्तोष-सा उत्पन्न हो गया था, और धीरे-धीरे यह धारणा दृढ़ होती जा रही थी कि छायावाद की वायवी भाव-वस्तु और उसी के अनुरूप अत्यन्त बारीक तथा सीमित काव्य-सामग्री एवं शैली शिल्प आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति करने में सफल नहीं हो सकते। निसर्गतः उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। भाव-वस्तु में छायावाद की तरल अमूर्त अनुभूतियों के स्थान पर एक ओर व्यवहारिक सामाजिक जीवन की मूर्त अनुभूतियों की मांग हुई, दूसरी ओर सुनिश्चित बौद्धिक धारणाओं का ज़ोर बढ़ा और शैली शिल्प में छायावाद की वायवी और अत्यन्त सूक्ष्म कोमल काव्य-सामिग्री को आग्रह के साथ ग्रहण किया। आरम्भ में इस प्रतिक्रिया का समवेत रूप ही दिखाई देता था। कुछ ही वर्षों में उन कवियों के दो-वर्ग पृथक हो गए। एक वर्ग सचेत होकर निश्चित सामाजिक राजनीतिक प्रयोजन से साम्यवादी जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति को अपना परम कवि कर्त्तव्य मानकर रचना करने लगा। दूसरे वर्ग ने सामाजिक राजनीतिक जीवन के प्रति जागरूक रहते हुए भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाए रक्खा। उसने किसी राजनीतिक वाद की दासता स्वीकार नहीं की वरन् काव्य की वस्तु और शैली शिल्प को नवीन प्रयोगों द्वारा आज के अनेक रूप, अस्थिर, चिर प्रयोगशील जीवन के उपयुक्त बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया। पहले वर्ग को हिन्दी में प्रगतिवाद और दूसरे को प्रयोगवाद नाम दिया गया।[1] डॉ० नगेन्द्र जी का यह विभाजन विशेष स्पष्ट और सूक्ष्म नहीं है क्योंकि छायावादोत्तर कालीन कविता में कुछ ऐसे कवि भी काव्य की रचना कर रहे हैं जिन्हें न प्रगतिवादी कहा जा सकता है और न प्रयोगवादी !

'नयी कविता' का इतिहास 'तार सप्तक' से प्रारम्भ होता है। इसका प्रकाशन सन् १९४३ ई० में हुआ था। इसके कवि हैं—गजानन माधव मुक्तिबोध नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, डॉ० रामबिलास शर्मा और सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'। दूसरा सप्तक सन् १९५१ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके कवि हैं—भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरि नारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश कुमार मेहता, रघुबीर सहाय और डॉ० धर्मवीर भारती। तीसरा सप्तक सन् १९५९ ई०

१. 'वाद समीक्षा'– सम्पादक. डॉ० कन्हैयालाल सहल. 'हिन्दी की प्रयोगवादी कविता, लेख. डॉ० नगेन्द्र पृ० ५२.

में प्रकाशित हुआ। इसमें सम्मिलित कवि हैं—प्रयाग नारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना। इस प्रकार अब तक तीन सप्तक प्रकाशित हुए हैं जिसमें इक्कीस कवियों की कविताएँ संग्रहीत हैं। तीनों सप्तकों में प्रत्येक कवि की कविताओं के आरम्भ में सम्बन्धित कवि का जीवनवृत्त तथा उसका वक्तव्य दिया गया है और सप्तकों के प्रारम्भ में सम्पादक 'अज्ञेय' की भूमिकाएँ हैं जिनमें 'नयी-कविता' के दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण का प्रयास किया गया है।

वास्तव में कोई भी महान् कवि अपनी पूर्ववर्ती काव्य परम्परा से बिलकुल ही भिन्न नहीं होता। इसी कारण नये कवियों ने अपने साधारण 'प्रयोग' द्वारा पूर्व की समस्त ग्राह्य परम्परा को स्वीकारा और उन पूर्ववर्ती कवियों की कविताओं से अपनी कविता को भिन्न रखकर उसमें नवीनता का पुट दिया। 'प्रयोग' शब्द का व्यवहार साहित्यिक अनुभूति के क्षेत्र में नवीनता, ताज़गी उत्पन्न करने वाले प्रयत्नों के लिए होता है। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध प्रयोगशील उपन्यासकार 'फिलिप टायनबी' ने लिखा है, कि 'यूरोप के कुछ स्थानों में ऐसी पुस्तकें जिनमें वाक्य सीधे नहीं वरन् ऊपर से नीचे की ओर छपे हों या जिनकी विभिन्न रंगों में छपाई हुई हो, साहसपूर्ण तथा मनोरंजक प्रयोग के रूप में स्वीकार की जाती हैं, चाहे उसका वस्तुतत्व बहुप्रयुक्त और अनुकृत ही क्यों न हो।'[१] सत्य तो यह है कि साहित्य में प्रयोग सदैव होते आए हैं। यद्यपि आज के युग में उनमें परिवर्तन जल्दी-जल्दी होता है। उसका कारण यह है कि मानव आज प्राचीन मृत-रीतियों से ऊब चुका है। वह साहित्य को जीवित और सशक्त बनाने के लिए नवीन मार्गों की खोज कर निर्माणात्मक होता जा रहा है। परम्परागत आई हुई काव्य-रीतियों को तोड़ने के लिए वह विवश है क्योंकि ये उसकी स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति में बाधक हैं।

---

१. "A book which is printed upside down or in a particular print can still be actaimed in some parts of Europe as a bold and interesting experiment, even if its matter is the most hackneyed imitation...."

—Experiment And the Future of the Novel.
Philip Toynebee. London.Magazine. May. 1956.

जान लिविंगस्टन लोवेस के मतानुसार जब काव्य-रूढ़ियाँ निर्जीव हो जाती हैं, तो उस समय कवियों के समक्ष तीन ही रास्ते होते हैं[1]—

१—या तो वे उन रूढ़ियों को अपनाकर ग्रामोफोन की भाँति दोहराते जाते हैं।

२—या अपनी रचनात्मक प्रतिभा द्वारा उस मृत या खोखले रूपाकार में नयी शक्ति और नया जीवन भरकर उसका स्वरूप ही परिवर्तित कर देते हैं।

३—या वे विद्रोह करके पुराने सिक्कों को बिलकुल अस्वीकार कर देते हैं और नए सिक्कों का निर्माण स्वयं करने लगते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रिया प्रतिक्रिया से प्रत्येक युग में नवीन साहित्य आता है।

हिन्दी-साहित्य में भी रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह का यही स्वर दिखाई देता है। सारा सन्त-काव्य सामन्ती लौकिक काव्य की ऐहिक प्रवृत्तियों और स्थूल शास्त्रीय रीतियों के विरुद्ध विद्रोह का काव्य है। इस काव्य में केवल विद्रोह ही नहीं सामाजिक और आध्यात्मिक अभिव्यक्ति द्वारा जनता की भाषा में व्यक्ति की आध्यात्मिक प्यास की वाणी मिली है। भक्ति-काल में यह स्वर और भी प्रबल रहा। सूर, तुलसी और मीरा आदि ने काव्य को पूर्णता दी। परन्तु रीतिकाल की लौकिक प्रवृत्ति ने धार्मिक काव्य-प्रवृत्ति को पीछे हटाकर प्रबलता प्राप्त की। इस प्रकार सम्पूर्ण मध्य-काल में स्वच्छन्दता और रीतिबद्धता का यह संघर्ष दिखाई पड़ता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रीतिकालीन काव्य रूढ़ियों के विरुद्ध फिर विद्रोह आरम्भ हुआ जिसका रूप हमें

---

१. "Poets may set the conventions going with the detachment of a photograph, and even absent themselves, to all intents and purposes, entirely, or, they may exercise creative energy, as we have seen, upon dead forms empty shells, and bring about a metamorphosis, or, finally, they may rise up in revolt, repudiate the old coinage altogether and more or less definitely set themselves to minting new."

—Convention and Revolt in Poetry.
—John Living Lowes.
3rd Edition page—92.

'द्विवेदी युग' की कविता की भाषा छन्द योजना और विषय वस्तु के चुनाव में दिखाई पड़ता हैं। अंग्रेजी की 'रोमान्टिक कविता' का घोषणा-पत्र जिस प्रकार लिरिकल बैलेड्स की भूमिका में व्यक्त हुआ है, ठीक उसी प्रकार हिन्दी में श्री सुमित्रानन्दन पन्त के 'पल्लव' की भूमिका को छायावाद के आन्दोलन की घोषणा मानना चाहिए। इसमें पन्त जी ने पूर्ववर्ती काव्य वृत्तियों से मुक्ति का मार्ग दिखाने के लिए रीतिकालीन छन्द-योजना, अन्त्यानुप्रास-पद्धति, घिसीपिटी अप्रस्तुत-योजना, कृत्रिम भाषा और सीमित भावक्षेत्र की कटु आलोचना की है। सन् १६३५ ई० के बाद छायावाद के विरुद्ध प्रगतिवाद के रूप में विद्रोह हुआ जिसकी प्रतिक्रिया में आगे चलकर 'नयी कविता' का आन्दोलन प्रसिद्ध हुआ।

हरिऔध जी की समास बहुला, तत्सम पदावली वाली भाषा को द्विवेदी युगीन प्रयोग मानते हुए आचार्य पं० नन्द दुलारे वाजपेयी जी ने लिखा है—"खड़ी बोली के कवियों के लिए वह वस्तु नए प्रयोग के रूप में ही आई। इन्हें (खड़ी बोली के कवियों को) सांस्कृतिक शब्दावली के अनभ्यस्त चयन का नया कार्य करना पड़ा।"[१] रीतिकालीन काव्य रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह की यह प्रक्रिया द्विवेदी युग में ही समाप्त नहीं हो गई यह उसके बाद भी चलती रही। द्विवेदी युग की कविता ने उन रूढ़ियों को तो छोड़ दिया किन्तु उसकी विशेषताओं कोमलकान्त पदावली, व्यंजकता, सरसता और कसावट को अपने भीतर नहीं ला सकी। यही कारण था कि विद्रोह की परम्परा आगे बढ़ी और 'पल्लव' की भूमिका में पन्त जी ने पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की तरह रीतिकालीन कविता की रूढ़ियों की कटु आलोचना करते हुए लिखा—"भाव और भाषा का ऐसा शुक्र-प्रयोग राग और छन्दों की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास और तुकों की ऐसी आश्रान्त उपल वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है? घन की घहर, भेकी की भहर, झिल्ली की झहर, बिजली की बहर, मोर की कहर, समस्त संगीत तुक की एक ही नहर में बहा दिया और बेचारे औपकायन की बेटी उपमा को तो बाँध ही दिया। आँख की उपमा? खंजन, मृग, कुंज, मीन, इत्यादि; होठों की? किसलय, प्रवाल, लाल लाख आदि; और इन धुरन्धर साहित्याचारों की? शुक, दादुर, ग्रामोफोन इत्यादि।"[२]

---

१—आधुनिक साहित्य—प्रयोगवादी रचनाएँ—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० २७

२—पल्लव की भूमिका—पं० सुमित्रानन्दन पन्त—पृष्ठ, ८-९, पाँचवाँ संस्करण, सं० २००५।

इसी विद्रोही प्रवृत्ति के कारण कवियों ने जो नवीन प्रयोग किए उनसे हिन्दी कविता संगीतात्मक, भावानुरूप, काव्य-वैभव से पूर्ण और कल्पनाशील बन सकी। अंग्रेजी में टी० एस० इलियट पहला प्रयोगशील कवि है जिसकी अभिव्यंजना पद्धति को परवर्ती कवियों ने स्वीकार कर लिया। 'वेस्टलैंड' और 'हालोमैन' उसकी प्रसिद्ध कविताएँ हैं। एज़रा पाउण्ड के प्रयोग आगे नहीं चल सके। इलियट की कुंठा और प्रयोजनहीनता का एक चित्र वेस्टलैंड में मिलता है। मनोरंजन के साधन शतरंज का खेल एवं रेस्ट्रां बन्द हो जाने के बाद आधुनिक व्यक्ति सटपटाता है वह कोरे शब्दों में कह उठता है।

'गुडनाइट बिल, गुडनाइट लू, गुडनाइट मे, गुडनाइट
टा! टा! गुडनाइट। गुडनाइट।
गुडनाइट प्रिय महिलाओं?'

—वेस्टलैंड

इसी प्रकार एज़रा पाउण्ड की कविताओं में एक ऐसे आस्थाहीन व्यक्ति का ओछापन दिखाई पड़ता है, जो किसी वस्तु को पवित्र नहीं समझता, जिसने मानवीय शील और मर्यादाओं को तिलांजलि दे दी है। वह अपनी एक प्रारम्भिक कविता में लिखता है—

हे ईश्वर। हे ठगों के देवता मर्करी।
मुझे एक तम्बाकू की दुकान खोल दो।
मैं लेखक बनने से बाज़ आया।
यहाँ दिन रात मगज़पच्ची करनी पड़ती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि नये कवि और लेखक प्रयोग करते क्यों हैं? इस प्रश्न का उत्तर फिलिप टायनवी ने अपने निबंध 'प्रयोग और उपन्यास का भविष्य' में इस प्रकार दिया है—'आज का उपन्यासकार प्रयोग इसलिए करता है कि उसका विश्वास है कि उसने हमारी वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में कुछ ऐसे सत्यों को आयत्त किया है, जिनकी अभिव्यक्ति अब तक अन्य किसी ने नहीं की है। यह उत्तर प्रथम दृष्टि में बहुत ही सही प्रतीत होगा, क्योंकि कहा जा सकता है कि हर युग के गंभीर उपन्यासकारों का यही उद्देश्य रहता आया है और इस उत्तर में कोई नई बात नहीं है। किन्तु मेरे उत्तर में नवीनता यह है कि उसमें 'हमारी वर्तमान स्थिति' पर विशेष ज़ोर दिया गया है। हमारे युग के पक्ष में चाहे जो कुछ कहा जाय, किन्तु इतना निर्विवाद है कि यह अब

युगों में से नहीं है जिनसे हम सम्मानपूर्वक या स्वाभाविक रूप में अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर सकते हैं।"[१] वास्तव में उपन्यास पर कही गई यह बात नयी कविता पर भी पूर्णरूप से लागू होती है। क्योंकि कविता में भी प्रयोग की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि एक विशेष युग की विशेष परिस्थितियों में कवि कुछ ऐसे सत्यों की उपलब्धि करता है जिन्हें पूर्ववर्ती कवि कुछ कारणोंवश नहीं कर सके थे। ऐसी स्थिति में नयी कविता के कवि का यह दायित्व होता है, वह युगानुरूप अपनी चेतना का विस्तार करे और जीवन के नये मूल्यों को आँके उन्हें अपने में आत्मसात् कर दूसरों तक वास्तविक रूप में सम्प्रेषित करे।

तारसप्तक के प्रकाशन के बाद यह स्पष्ट हो गया कि नयी कविता की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं—समाजवादी यथार्थवाद और मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद। तार सप्तक के सभी कवियों ने मूलरूप से अपने वक्तव्यों में विद्रोह की भावना व्यक्त की और युग की परिस्थितियों की माँग की। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जी ने 'प्रयोगवादी रचनाएँ' शीर्षक निबन्ध में लिखा है कि 'श्रेष्ठ से श्रेष्ठ काव्य-युग भी अपने समय पर विकसित होते हैं और उस समय के बीत जाने पर नई काव्य शैलियाँ प्रवर्तित होती हैं, इसलिए यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि छायावादी काव्यधारा इतनी शीघ्र समाप्त क्यों हो गई।[२] इससे स्पष्ट है कि छायावादी काव्य के बाद नई काव्यधारा का उदय अवश्यमभावी था। तात्पर्य यह कि हिन्दी कविता में विद्रोह और नये प्रयोग की चली आई हुई परम्परा को नयी कविता ने भी आगे बढ़ाया और काव्य के नवीनीकरण का निर्वाह किया।

कविता, यदि वह सच्ची कविता है तो, युग की चेतना से विच्छिन्न नहीं रह सकती। इसका कारण यह है कि कवि सामान्य लोगों से अधिक संवेदनशील

---

2. Experiment and the future of Novel—Philip Toynebee. London Magazine. May, 1956 "And the answer must surely be that it is because he believes that he has under stood some thing about our present condition which has not been expressed by anybody else. The answer may seem a flatone at first it might be said that this was always the intention of the serious novelist and that there is nothing new in it. But what is, I believe comperatively new in the answer I have given is the insistence on the words 'our present condition.' What ever may be said in favour or against our time, it is clearly not one of those periods from which we can respectably or naturally dissociate ourselves."

२. आधुनिक साहित्य—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—पृष्ठ २७

होता है और उसकी क्रियाशीलता निरंतर स्पंदित होती रहती है। अंग्रेजी साहित्य के विद्वान् एफ० आर० लीविस ने इस सम्बन्ध में लिखा है[१]—'कवि अपने समय में अपने समाज का सर्वाधिक सचेत व्यक्ति होता है। किसी विशेष युग की मानवीय अनुभूतियों को ग्रहण करने की क्षमता कुछ थोड़े से व्यक्तियों में ही होती है और कोई महत्वपूर्ण कवि महत्वपूर्ण इसीलिए होता है कि वह भी उन्हीं थोड़े से व्यक्तियों में से होता है। (साथ ही उसमें उन अनुभूतियों को अन्य लोगों तक प्रेषित करने की क्षमता भी होती है) निश्चय ही उसकी अनुभूति की क्षमता और अभिव्यक्ति की शक्ति, ये दोनों अविच्छेद होती हैं। यदि किसी युग की कविता और उस युग की बौद्धिक चेतना में परस्पर कोई सम्पर्क न रह जाय तो उस युग की कविता भी महत्वहीन हो जावेगी और वह युग भी सूक्ष्मतर कलात्मक ज्ञान से वंचित रह जायेगा।"

अतः यह निर्विवाद है कि नयी कविता की नवीनता इस युग की बौद्धिक चेतना के सम्पर्क और उसके अभाव के कारण है। वस्तुतः नयी कविता वह है जो नये विकासों की सूचना देती है। नये विकास बौद्धिक चेतना, भाव-वस्तु और अभिव्यंजना शैली प्रत्येक क्षेत्र में देखे जा सकते हैं। किन्तु इस काव्य में एक से अधिक दिशाओं और यहाँ तक कि दिग्भ्रम के भी दर्शन होते हैं। इस श्रेणी के सभी कवियों में एकसाँ नई शैली और नई उपमाओं का आग्रह नहीं है, क्योंकि कुछ भाव निरूपण को प्रधान मानकर चलते हैं तथा अन्य शैली निरूपण को। इनके वैयक्तिक और सामाजिक पक्षों में भी मतभेद है। व्यक्तिवादिता जिनमें

---

१. Poetry matters because of the kind of poet who is more alive than other people, more alive in his own age. He is, as it were, at the most conscious point of the race in his time...the potentialities of human experience in any age are realized only by a tiny minority, and the important poet is important because he belongs to this (and has also of course, the power of commuincation) indeed, his capacity for experiencing and his power of communication are indistinguishable. But if the poetry and intelligence of the age will be lacking in finer awareness."

—New Bearings in English Literature. F.R. Lewis-Page--13-14

विशेष है वे मानसिक उलझनों, अंतश्चेतना और अन्तर्द्वन्द्व की ओर अग्रसर हो जाते हैं और जिनमें सामाजिकता विशेष है वे नीति, राजनीति और वर्ग संघर्ष की ओर। कुछ ऐसे भी नए कवि हैं जो उपर्युक्त दोनों सीमान्तों में से किसी के कट्टर अनुयायी नहीं हैं पर उनके काव्य में यत्र तत्र दोनों प्रकार की चेतनाओं के प्रभाव लक्षित होते हैं। इस प्रकार नयी कविता का क्षेत्र एक साथ सीमित भी है और असीम भी।

नयी कविता के विषय में स्वाभाविक बहुरूपता के साथ यदि कोई एक निश्चित तथ्य है, तो वह है छायावाद का खुले आम विरोध। इस सम्बन्ध में कविवर सुमित्रानंदन पंत जी ने लिखा है—"नई कविता ने मानव भावना को छायावादी सौंदर्य के धड़कते हुए पलने से बलपूर्वक उठाकर उसे जीवन समुद्र की उत्ताल तरंगों में पेंग भरने को छोड़ दिया है, जहाँ वह साहस के साथ सुख दुःख आशा-निराशा के घात प्रतिघातों में बढ़ती हुई युग जीवन के आँधी तूफानों का सामना कर सके, अन्तर्वेदना से मुक्त होकर सामाजिक व्यथा के अनुभवों से परिपक्व बन सके। नई कविता विश्ववर्चस्व से प्रेरणा ग्रहण करके तथा आज के प्रत्येक पल बदलते हुए युग पट को अपने मुक्त छन्दों के संकेत की तीव्र मन्द गति लय में अभिव्यक्त कर युग मानव के लिए नवीन भावभूमि प्रस्तुत कर रही हैं।' "पंत जी का यह वक्तव्य द्विपक्षीय है। एक यह कि छायावाद कल्पना और स्वप्न की वस्तु थी। दूसरा यह कि नई कविता जीवन के वास्तविक अनुभवों से निर्मित होने वाली वस्तु है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि नई कविता का लक्ष्य निर्माणात्मक है और वह है युग मानव के लिए नवीन भावभूमि का प्रस्तुत करना।

गिरिजाकुमार माथुर ने नई कविता की परिभाषा दूसरे ही रूप में दी है, उनका कथन है—"मौजूदा कविता के अन्तर्गत वह दोनों ही प्रकार की कविताएँ कही जाती रही हैं जिनमें एक ओर या तो शैली, शिल्प और माध्यमों के प्रयोग होते रहे हैं या दूसरी ओर समाजोन्मुखता पर बल दिया जाता रहा है। लेकिन 'नई कविता' हम उसे मानते है जिसमें इन दोनों के स्वस्थ तत्वों का संतुलन और समन्वय है। यह नई कविता नए शिल्प और उपमानों के प्रयोग के साथ समाजोन्मुखता और मानवता को एक साथ अंजलि में भरे भविष्य की ओर अग्रसर हो रही है। उसकी नजर अतीत की श्यामलता और वर्तमान के संघर्ष

से आगे भविष्य पर टिकी है। जीवन की संघर्षजन्य कटुता के बीच भारतीय आदर्शानुसार उसकी आशा की लौ निष्कंप है, क्योंकि उसे विश्वास है कि आज चाहे जो स्थिति हो मानवता का भविष्य कल्याणमय है और वह हर अमंगल शक्ति पर निश्चित रूप से विजय प्राप्त करेगी। इसीलिए नई कविता पलायन, पस्ती और पराजय की कविता नहीं हो सकती।" गिरिजाकुमार जी की उपर्युक्त परिभाषा में सामान्य निर्देशों की ओर ही संकेत किया गया है, फिर भी इसमें सभी बातें समाहित हो सकी हैं। यद्यपि नयी कविता की इस परिभाषा से किसी विशेषता का परिचय नहीं मिल पाता है।

नयी कविता के सम्बन्ध में नयी कविता के आदि स्रोत 'तार सप्तक' के सभी कवियों में मतभेद है। इस मतभेद को 'तार सप्तक' के संपादक ने स्वयं ही स्वीकार करते हुए लिखा है—"तार सप्तक के कवियों में मतैक्य नहीं है, सभी महत्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग-अलग है···काव्य, वस्तु और शैली के, छन्द और तुक के, कवि के दायित्वों के प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है।" प्रयोगों का महत्व कर्त्ता के लिए चाहे कितना हो, साथ ही खोज लगन उसमें चाहे जितनी उत्कट हो, सहृदय के निकट वह सब अप्रासंगिक है। पारखी मोती परखता है, गोताखोर के असफल उद्योग नहीं। गोताखोर का परिश्रम या प्रयोग अगर प्रासंगिक हो सकता है तो मोती को सामने रखकर ही।···इस प्रकार 'प्रयोग' का 'वाद' और भी बे मानी हो जाता है।[१]

इस प्रकार विचार के क्षेत्र में तार सप्तक के कवि परस्पर इतने भिन्न हैं कि उन्हें ध्यान में रखकर नयी कविता की किसी प्रकार की रूपरेखा की धारणा निर्मित करना संभव नहीं।

नयी कविता के संकलन अर्थात् 'तार सप्तक' के कवि, गजानन माधव 'मुक्ति बोध,' नेमिचन्द्र, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, डा० रामबिलास शर्मा तथा अज्ञेय हैं। ये सभी कवि (संभवतः अज्ञेय जी को छोड़कर) उस समय के मान्य प्रगतिवादी कवि हैं। अपनी कविताओं की भूमिका में अज्ञेय जी ने लिखा है, "उसकी (भाषा की) माध्यमिकता इसी में है कि वह एक से अधिक को बोधगम्य हो।" माचवे जी लिखते हैं, "सामाजिक मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन में 'हरकूलियन' कष्ट साध्य कार्य में एक

१. तार सप्तक एवं दूसरे सप्तक की भूमिका से— संपादक-अज्ञेय, पृ० ८, सन्-१९५१ संस्करण।

अवश्यम्भावी शर्त आत्मविश्वास है।" भारतभूषण जी ने एक दयनीय ईमानदारी के साथ-साथ कहा है,—"समाज की इस शोषणसत्ता के साथ लड़ना होगा।" नेमिचन्द्र जी कहते हैं, "जिस दिन व्यक्ति, कवि सचेष्ट भाव से इस युगों पुराने संस्कारगत आंतरिक विरोध को सुलझाकर अपनी चेतना को पूर्ण रूप से सामाजिक बना सकेगा उसी दिन फिर कविता अपने प्रकृत रूप में निखर उठेगी। मुक्तिबोध जी का कथन है, "कला के केन्द्र व्यक्ति हैं, पर उसी केन्द्र को अब दिशा व्यापी करने की आवश्यकता है।" इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि जहाँ सभी सङ्कलित कवियों ने भाषा में 'नया' अधिक गहरा, अधिक सारगर्भित अर्थ भरने के लिए प्रयोग के महत्व को स्वीकार किया, वहाँ वे अन्य दायित्वों के प्रति भी सजग रहे। वास्तव में अन्य दायित्वों तथा नए प्रयोगों की सार्थकता में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह पुरानी परिचित, घिसी पिटी चीजों से ऊब जाता है तब वह नवीनता में रस लेता है। इस सम्बन्ध में जॉन लीविस ने ठीक ही लिखा है कि "हम लोग नवीनता के लिए उत्सुक तो अवश्य रहते हैं, किन्तु हमारा ज़ोर इस बात पर भी रहता है कि जो परिचित है, जो बिलकुल अपना है, उससे भी उस वस्तु का सम्बन्ध अवश्य बना रहे, हम पुराने को तो चाहते ही हैं, पर चाहते हैं कि वह किसी न किसी रूप में नया प्रतीत हो।[१] तार सप्तक में 'अज्ञेय' जी ने 'व्यक्तिसत्य' को 'व्यापक सत्य' बनाने के सनातन उत्तरदायित्व की बात कही है। 'दूसरे सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय जी ने इसी प्रकार के प्रश्न उठाये भी हैं। वे कहते हैं—

"निरे 'तथ्य' और 'सत्य' में—या कह लीजिए—'वस्तु सत्य' और 'व्यक्तिसत्य' में यह भेद है कि 'सत्य' वह 'तथ्य' है जिसके साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध है। या कवि नये तथ्यों को उनके साथ नये रागात्मक सम्बन्ध जोड़ कर नये सत्यों का रूप दे, उन नये सत्यों को प्रेष्य बनाकर उनका साधारणीकरण करे, यही नई रचना है"।[२]

---

१. 'We are keen for the new but we insist that it establish some connection with what is friendly and our own, we want the old but we want it to see some how new."
—Convention and Revolt in Poetry—John Lewes, page. 63.

२. दूसरे सप्तक की भूमिका—६ एवं १२ पृष्ठों से

नयी कविता के समर्थन में नये-नये तर्क खोजकर निकाले जाते हैं। बालकृष्ण राव ने इस विषय पर कुछ संतुलित धारणा के साथ कहने का प्रयास किया है—"स्पष्टता, दुरूहता, दीक्षागम्यता के आरोप नई कविता के ऊपर लगाये जाते हैं···। आरोप सर्वथा अनुचित भी नहीं हैं और न इस पर आश्चर्य करना चाहिए कि जिस भावुक वर्ग की दृष्टि निराकार को साकार मान सकी वह नयी कविता में नयेपन के सिवा कुछ क्यों नहीं देख पाती ? दोष दोनों का है। अँधेरे से रोशनी में आने पर दृष्टि को अभ्यस्त होने में कुछ देर लगती ही है। यह भी सत्य है कि नई कविता के नाम पर इतनी बेमतलब और बे सिर पैर की चीज़ें धड़ाधड़ सामने आती रही हैं कि देखने वाला भी यह कहने में हिचकता है कि उसे कुछ मिला या नहीं।" राव जी के उपर्युक्त कथन से केवल तथ्य यही निकलता है कि छायावाद और नई कविता क्रमशः अंधेरा और रोशनी हैं। मैं नहीं समझता कि आखिर रावजी के पास इसका कोई आधार भी है, या यूँ ही बात का संकेत मात्र ?

नयी कविता में हम जागरूकता के भी दर्शन करते हैं। 'तार सप्तक' के कवियों में माध्यम शक्ति की जागरूकता है। वे माध्यम की सापेक्षता में जीवन, सौन्दर्य और समाज की दृष्टि पाते हैं। गिरिजाकुमार माथुर की यह कविता यद्यपि व्यक्तिगत है फिर भी साधारण जीवन की भावना के निकट है जो मानव विशिष्टता के स्तर पर मनुष्य मात्र में आस्था रखती है—

आज अचानक सूनी संध्या में
जब मैं यूं ही मैले कपड़े देख रहा था
किसी काम में जी बहलाने
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा
गिरा रेशमी चूड़ी का छोटा सा टुकड़ा
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहिने थीं
रंग भरी उस मिलन रात में

—गिरिजाकुमार माथुर

ठीक इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण हमें नेमिचन्द्र जैन जी में भी मिलता है—

यह मधुमास लजीला चुप-चुप
तेरे उर के आँगन को

गीला कर कर जाता होगा री,
परिमल के मिठास से भाराकुल
यह बासन्ती बयार
उलझ उलझ खोल खोल देता होगा री,
तेरा कच सँभार सुरभिमय
..................

मैं एकाकी
मेरे आगे टेढ़ा-मेढ़ा बिखरा फैला है
अनन्त पथ अब भी बाकी

—नेमिचन्द्र जैन

आज नयी कविता के टेक्स्ट को न पढ़ने वाले भी उसकी आलोचना को तो पढ़ते ही हैं और उसी आलोचना और आलोचकों के आधार पर नयी कविता के सम्बन्ध में अपनी भली-बुरी धारणा बनाकर सन्तोष करते हैं। केवल इस प्रकार की धारणा बनाने से ही आज काम नहीं चल सकता है। प्राय: आज के आलोचक नयी कविता के उन उद्धरणों को सामने रखते हैं जो आरम्भिक अवस्था के हैं। उनके भाव अस्फुट हैं, और हैं प्रभावहीन जैसे—

१. अगर कहीं मैं होता तोता।
तो क्या होता।
तोता होता।

२. दिन दिन भर सोना
उठे भी तो भाग्य को रोना
बहुत हुआ तो किताबों में दिल दिमाग़ खोना !

३. मेरे सपने इस तरह टूट गये
जैसे भुँआ हुआ पापड़ !

निश्चय ही ये नयी कविताएँ सुन्दर नहीं हैं। हास्यास्पद हो गई हैं, परन्तु धीरे-धीरे नयी कविता की काव्य वस्तु में उभार और निखार आ रहा है। आज नयी कविता आरम्भिक स्थिति से निकलकर परिमार्जित रूप में आ रही है। आज की नयी कविता के कुछ स्वस्थ उदाहरण देखिए —

जीवन है कुछ इतना विराट इतना व्यापक
उसमें है सबके लिए जगह सबका महत्व
ओ मेजों की कोरों पर माथा रखकर रोने वाले
यह दर्द तुम्हारा नहीं सिर्फ, यह सबका है
सबने पाया है प्यार, सभी ने खोया है
सबका जीवन है भार
और सब जीते हैं।

—धर्मवीर भारती

अज्ञेय जी लिखते हैं—

यह वह विश्वास नहीं जो अपनी लघुता में भी काँपा
वह पीड़ा, जिसकी गहराई को स्वयं उसी ने नापा
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुआते कड़वे तम में
ये सदा-द्रवित, चिर जागरूक, अनुरक्त-नेत्र
उल्लम्ब-बाहु, यह चिर-अखण्ड अपनापा।
जिज्ञा, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय
इसको भक्ति को दे दो।

—अज्ञेय

जीवन की सीमाओं में न बँधकर नई अनुभूति के अनुभव को व्यक्त करते हुए कुँवरनारायण ने लिखा है—

कर्म रत हो,
स्वप्न मत देखो
कहीं उन्माद रह जाए न भौंरे का
निरर्थक गीत उद्दीपन
इस गली के छोर पर बुनियाद डालो
कोठरी में दीप की लौ
सेंकती ठंडा अँधेरा
इन्हीं पत्तों में कहीं सोया हुआ है
रूप का गोरा सबेरा।

—कुँवर नारायण

नयी कविता में प्रयोग की चर्चा चलाने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति अज्ञेय माने

जाते हैं, जिन्हें इलियट का भारतीय संस्करण भी कहा जाता है। इलियट ने काव्य के अन्तर्गत प्रयोग की बात कही है।[१] नवीनता के लिए आकुल प्रयोग के प्यासे अज्ञेय ने भी हिन्दी में इसी प्रयोग (Experiment) की बात उठाई और वह तब शान्त हुई जब उसने वाद का रूप धारण कर लिया और नयी कबिता ने व्यापक रूप धारण कर लिया।

नयी कविता की इस प्रयोग परम्परा पर फ्रायड का प्रभाव है। उसका मनोविश्लेषण विज्ञान की दो बातों का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा है। प्रथम है अचेतन मन में दबी हुई इच्छाओं को मुक्तासंग (फ्री एसोसियेशन) पद्धति के द्वारा व्यक्त करना और द्वितीय समस्त मानव वृत्तियों के मूल में काम प्रवृत्तियाँ (सेक्स) ही कार्य करती हैं। मनोविश्लेषण विज्ञान के ये सिद्धान्त प्रयोगवादियों द्वारा अपनी उलझी हुई संवेदनाओं को काव्य में यथावत प्रकाशित करने के लिए प्रयुक्त होता है जिससे कविता में जहाँ सुसंबद्ध विचारों की अभिव्यक्ति अपेक्षित है वहाँ असंबद्ध विचारों का अंकन होता है। काव्य की व्याख्या के लिए भले ही मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों का प्रयोग उचित हो परन्तु अभिव्यक्ति के लिए वह सर्वथा अनुचित होता है। इसके परिणामस्वरूप कवि कविता के तुक बन्धनों से मुक्त होकर विषय को बेतुका, शैली को असम्बद्ध और अभिव्यक्ति को दुरूह बना देता है। इस पद्धति से अंग्रेजी काव्य में जो कठिनाई आई उसके विषय में सीसिल डे० लीविस ने लिखा है कि "यह प्रक्रिया पाठक के लिए कविता को समझने का कार्य कठिन कर देती है, क्योंकि किसी वस्तु से सम्बन्धित उसके उचित भाव कवि के उस विषय से सम्बन्धित भावों से अधिकांशतः भिन्न होते हैं। अतएव पाठक प्रायः अपने को ऐसी स्थिति में पाता है जैसे कि वह कविता न पढ़कर किसी सुप्त व्यक्ति का बड़बड़ाना सुन रहा हो"।[२] इस

१. The word 'Experimentation' may be applied and honourably applied to the work of many poets who devlop and change in maturity.

—T. S. Elliot

२. This process makes things difficult for the reader because his associations with any given idea or image are probably different from those of the poet, and he is likely to feel as prepuzzled and uucomfortable as if he were listening to some one talking in his sleep.

—A Hope for poetry.—C. Dey Lewis

वैज्ञानिक सिद्धान्त ने मनुष्य को अपने अचेतन मन में दबी पड़ी इच्छाओं को जानने में मदद की है। इसीलिए प्रयोग करने वाले बहुत सी कविताओं में आत्मनिरीक्षण करते जान पड़ते हैं। टी० एस० इलियट ने 'Ash Wednesday' शीर्षक कविता के अन्तर्गत आत्मनिरीक्षण किया है।[१] इसी प्रकार सच्चिदानंद हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने लिखा है—

छाया, छाया तुम कौन हो ?
ओ श्वेत, शांत घन अवगुण्टन।
तुम कौन सी आग की तड़प छिपाये हुए हो ?
ओ शुभ्र शान्त घन परिवेष्टन,
तुम्हारे अन्तर में कौन सी बिजलियां सोती हैं।

कवि को उत्तर प्राप्त होता है—

वह है मेरे अन्तरतम की भूख !

इस मनोविश्लेषण के अनुसार समस्त जीवन कृत्रिम है जिसमें आज का मानव काम-प्रवृत्ति को अस्वाभाविक समझने के कारण सदैव उसे दमित किया करता है। अज्ञेय की यह भावना 'हरी घास पर क्षण भर' कविता में दिखाई देती है—

आओ बैठो।
तनिक और सटकर,
कि हमारे बीच स्नेह भर का व्यवधान रहे,
बस नहीं दरारें सभ्य शिष्ट जीवन की ?

नयी कविता का कवि शिष्टता-सभ्यता और लोक लाज की मान मर्यादा को ध्यान में न रखकर शृंगार का वर्णन भी करता है—

---

१. At the first turning of the second stair
I turned and saw below
The same shape twisted in the banister
At first turning of the third stair
The broadbacked figure drest in the blue and green
Enchanted the maytime with an antique flute.

—T. S. Elliot.

मैं वैसा का वैसा ही रह गया सोचता
पिछली बातें,
दूज-कोर-से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब लज्जित तस्वीरें।
सेज सुनहली,
कसे हुए बन्धन में चूड़ी का झर जाना।
निकल गईं सपने जैसी वे रातें
याद दिलाता रहा सुहाग भरा यह टुकड़ा।

—गिरिजाकुमार माथुर

इनके मतानुसार 'कविता में विषय से अधिक टेकनीक पर ध्यान दिया गया है। विषय की मौलिकता का पक्षपाती होते हुए भी मेरा विश्वास है कि टेकनीक के अभाव में कविता अधूरी रह जाती है।[1] इससे स्पष्ट है कि नयी कविता का कवि कविता के विषय वस्तु की अपेक्षा शिल्प या तन्त्र की ओर अधिक सचेष्ट है। उसका विषय वस्तु के लिए अधिक आग्रह नहीं है, वे विचार वस्तु की अपेक्षा रूप को ही अधिक प्रधानता देते हैं।

प्रयोगवादी कवि छन्द, भाषा, प्रतीक, अप्रस्तुत आदि विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोग करते हैं। प्रभाकर माचवे ने तारसप्तक में पृष्ठ ५१ पर लिखा ही है कि "कवितागत भाषा को भावानुकूल अदलने-बदलने का पूरा अधिकार होना चाहिए। ज्यों-ज्यों कविता की भाषा अधिकाधिक आम जनता की भाषा बनती चलेगी, उसमें प्रादेशिक शब्द अधिक आवेंगे, और यह इष्ट भी होगा। हमारे अलंकार अधिक वैज्ञानिक, आधुनिक और वैशेषिक हों अन्यथा निरे अंलकार साँख्य से निरलंकार काव्य रचना बेहतर है।" नये कवियों ने भाषा के क्षेत्र में बहुत ही विचित्र प्रयोग किये हैं। अपनी शब्दावली की वृद्धि के लिए इन्होंने विज्ञान, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण विज्ञान, देश विदेश की चित्रकला, ग्रामीण और बाजारू शब्दों का भी प्रयोग किया है। इसी कारण से कहीं-कहीं पर शैली थाड़ी दुरुह भीहो गई है। दूसरे नये कवि मुक्त-छन्द के अतिरिक्त सभी छन्दों के विरोधी हैं, यही कारण है आज छन्द लयहीन रचनाएँ बहुत लिखी जा रही हैं। अज्ञेय जैसे रचनाकार 'भारतीय कविता १९५३' में लिखते हैं—

---

१. तारसप्तक—पृ० ४२

यह दीप अकेला स्नेह भरा,
यह गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

× × ×

यह प्रकृति स्वयंभू, ब्रह्म अयुत
उसको भी शक्ति को दे दो!

प्रतीकवादी और नये कवियों में यदि किसी प्रकार का साम्य है तो वह केवल प्रतीकों का विधान ही है। नये और तरुण कवियों को सबसे अधिक प्रयोगशीलता के छद्मवेश ने ही आकर्षित किया है और उसी के परिणामस्वरूप सौंदर्यहीन कविता का एक बड़ा ढ़ेर एकत्र हो गया है। नये-नये अप्रस्तुत-विधानों की योजनाओं में कवि का तर्क द्रष्टव्य है—

अगर मैं तुमको
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद के भोर की नीहार न्हाई कुंई
टटकी कली चम्पे की
वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही—
ये उपमान मैले हो गये हैं
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है
मगर क्या तुम नहीं पहचान पाओगी
अगर मैं यह कहूँ—
बिछली घास हो तुम
लहलहाती हवा में कलगी छरहरे बाजरे की?

—हरी घास पर क्षणभर—'अज्ञेय'

यहाँ कवित्व की सर्जना की अपेक्षा कवि ने सिद्धान्त पर बल दिया है।

निजी गहरे बोध 'बिछली घास' 'बाजरे की कलगी'—आज के अनुभव के निकट हैं। इसमें ताजगी है, पर सायास प्रयोग है। बुद्धि-प्रेरित कल्पना अधिक है।

इस प्रकार के अप्रस्तुतों में न तो प्रभावात्मकता है न विशेष आकर्षण ही। कहीं-कहीं पर नवीनता के दर्शन अवश्य हो जाते हैं। कुछ कविताएँ नवीनता के आग्रह वैचित्र्य-प्रियता और अत्यधिक बुद्धिवादिता से ग्रस्त होने के कारण जटिल प्रतीत होती हैं। दृष्टि की तटस्थता को व्यक्त करते हुए नलिनविलोचन शर्मा की पंक्तियाँ देखिए—

मैंने देखा नहीं क्रौंच-वध  
सो मैं न तो लिख रहा हूँ अनुष्टुप में  
और न रामायणी कथा ही  
पर हृदय उद्वेलित उतना ही  
जितना होगा बाल्मीकि का;  
दृष्टि में तटस्थता ज्यादा।

प्रत्यूष का वर्णन बड़ी ही विलक्षण कल्पना में इसी कवि ने किया है—

प्रत्यूष की नीली, धब्बों-भरी शान्ति,  
क्षितिज की गंजी चाँद,  
× × ×  
सुबह की मीठी नींद टूट गई,  
मसहरी के पार जँगले से देख रहा हूं  
संदिग्ध प्रत्यूष-बेला,  
निश्चय पूर्ण दिन बन गई।  
मनहूस—  
प्रत्यूष।

इसी भाँति केसरी कुमार ने 'बोधिवृक्ष' शीर्षक कविता में जीवन की यथार्थता से मुँह मोड़ लेने के प्रति व्यंग्य किया है—

यह बोधिवृक्ष हरिताभ  
मित्र प्रेरित यह दृश्य,  
डाल पर पक्षि युग्म—  
एक कुछ शान्त, दूसरा किंचित चंचल।  
द्वा सुपर्ण्य सयुजा सखाया ?

न दोनों खाते 'पिय्यल'।
छाँह में,
पद्मांकित पगचिन्ह
महाभिषक् तथागत के।
पास में खड़े टोल के टोल
अपाहिज, अन्ध
माँगते ताम्र
बाँटते मुक्ति।

कुछ लोग ऐसे हैं जो आज नई कविता का खुल्लम खुल्ला विरोध कर रहे हैं, हम यह नहीं कहते कि सभी आँख मूंदकर नई कविता की प्रशस्ति गाएँ वरन् नई कविता की 'काव्य-कला की आलोचना करना अपना धर्म समझते हैं, परन्तु एक निष्पक्ष आलोचक के रूप में, न कि किसी न किसी दल विशेष के व्यक्ति के रूप में। आलोचना का रोब आज ऐसा छा गया है कि कवि स्वयं अपनी कविता में उन गुणों की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं जो उनमें नहीं हैं 'सप्तकों' में कवियों द्वारा किए गए उद्घोष उनके मेनफेस्टो हैं जिनमें सारी बातों की पुष्टि नहीं हो पाती है परन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि इन कवि आलोचकों ने अपने हृदय की काव्य-सम्बन्धी आकाँक्षाओं और नई कविता की भावी रूपरेखा को समक्ष उपस्थित किया है। यह दूसरी बात है कि अभी वहाँ तक पहुँचने में उनके प्रयत्न ठोस न हों, जो वर्षों के अभ्यास के बाद स्थायी अवश्य होंगे।

प्रयोगवादी कविता के मन्त्रदाता अज्ञेय जी ने अपनी कविताओं और समीक्षात्मक निबन्धों में नई कविता के अनेक पहलुओं पर प्रकाश डाला है। अज्ञेय जी की यह स्थापना है कि नई कविता समकालीन सत्य और यथार्थ को सबल हाथों से पकड़ने की चेष्टा कर रही है। कवि के लिए वे विषय के सत्य और विषयी के सत्य को समन्वित रूप से प्रेषित देखना चाहते हैं और इसी को कवि कर्म का विशेष उत्तरदायित्व मानते हैं। नयी कविता में वे इस पक्ष के समर्थन का दर्शन करते हैं और समझते हैं कि नयी कविता के समर्थ कवियों में उनकी सीमाओं के रहते हुए भी सम्पूर्ण जीवन की धमनी का स्पन्दन है। वास्तव में नयी कविता के तन्त्र कौशल में कुछ त्रुटियाँ हैं अवश्य पर उन त्रुटियों के लिए साधना की अपेक्षा रखनी ही पड़ेगी क्योंकि आज

की कविता बोलचाल की अन्विति माँगती है, गद्य की लय नहीं। लय को तो वह उक्ति का अभिन्न अंग मानती है। हम यह जानते हैं कि आज की नयी कविता हमें रससिक्त नहीं करती, क्योंकि वह भावों को केन्द्र में नहीं, वरन् विचारों को केन्द्र में रखती है और बुद्धि को स्पर्श हीन रखकर वह भावों तक जाना नहीं चाहती। इसका एकमात्र कारण यही है कि नये युग का सतर्क वातावरण उसे ऐसा नहीं करने देता। भावों और विचारों के परस्पर उलझे सूत्र में वह विचारों के सूत्र को खींचकर भावों के सूत्रों को छोड़ने का यत्न करती है। हृदय से बुद्धि तक रागों और विचारों के मिले जुले अनन्त स्तर हैं। आज की नयी कविता इनमें से किसी को भी छू लेने में अपनी सार्थकता मानती है। प्रयोगवादी कविताओं में शब्दों की शक्ति निरन्तर विकसित हो रही है और उनके अभ्यास का तोतलापन भी क्रमशः समाप्त होता जा रहा है। इस प्रकार का प्रयत्न नए कवियों ने सावधानी से किया है। अंग्रेजी काव्य-विन्यास का प्रभाव, मनोविश्लेषणात्मक शब्दावली और विरामचिन्हों का उन्मुक्त प्रयोग नयी कविता की सजावट में नवीनता ला देता है। नए कवियों के एक उज्ज्वल नक्षत्र श्री गिरिजाकुमार माथुर ने भी प्रयोगों के सम्बन्ध में चेतावनी देते हुए एक निबन्ध में लिखा है—'नया कवि प्रयोगों को एक नारे के रूप में ग्रहण न करें। नए पन के नाम पर वह अस्वाभाविक, विशृंखलता, विचित्रता, कृत्रिम खींचतान और ऊल जलूल शब्द उपमान संग्रह करके लोगों को चौंकाने, ध्यान आकृष्ट कराने, नयी शैली का आभास पैदा करने या सनसनी मचाने का प्रयास पैदा न करें। क्योंकि न तो सनसनी मचती है और न नई शैली का निर्माण होता है, बल्कि स्वयं उसकी रचनाएँ दयनीय अथवा 'हास्यास्पद' हो जाती हैं।'

वस्तुतः नयी कविता युग-चेतना से प्रभावित काव्य-साहित्य ही है। इस कविता में साधारणतया तरुण कवियों के उद्गार हैं, जिन्होंने जीवन के नूतन मूल्यों और मानदण्डों का आविष्कार किया है और जीवन के उत्तरोत्तर विकास के लिए अपूर्व दिशाओं एवं अन्तरालों का उद्घाटन किया है। आज नयी कविता का कवि अपने विषय में जितना संज्ञावान् और सचेत है, उतना शायद कभी नहीं रहा। वैज्ञानिक युग के स्वर में स्वर मिलाकर कवि आज अपने ही नहीं वरन् अपने 'मिशन' के बारे में भी चैतन्य है। आज अपने देवत्व और अध्यात्मिक स्वरूप का वह प्रतिवाद कर रहा है और कर रहा है मनुजत्व

की श्रेष्ठता की स्थापना। फूल के व्याज से कवि 'प्राणगीत' में कहता है—

वह हँसा बोला : कि खुद को अन्य-हित
दान करना ही अरे अमरत्व है;
देवता के शीश चढ़ दिखला दिया,
श्रेष्ठतर देवत्व से मनुजत्व है।

'नदी के द्वीप' नामक कविता में अज्ञेय जी ने चिरन्तन सत्य को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। उनके प्रवाह में लीन होकर वे उसे नये ढंग से विकसित करते हैं। वे नया प्रयोग करते हैं और व्यक्ति निष्ठा को व्यापकत्व प्रदान करते हुए लिखते हैं—

द्वीप हैं हम
यह नदी है शाप
यह अपनी नियति है
हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी के क्रोड़ में
वह बृहद् भूखण्ड से हमको मिलाती है
और वह भूखंड अपना पिता है

× × ×

तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घर घराता उठे
यह स्त्रोतस्वनी ही कर्मनाशा कर्णनाशा
घोर काल प्रवाहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी।
उसी में रेत होकर फिर छनेंगे हम।
जायेंगे हम।
कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार
मातः, उसे फिर संस्कार तुम देना।

—'अज्ञेय'

अज्ञेय जी की इस कविता में व्यक्ति मर्यादा के स्वर भी स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसी भाँति रघुबीर सहाय की कविता में नयी संवेदना का जटिल और मर्मस्पर्शी सत्य पूर्ण रूप से व्यक्त हुआ है—

बन नहीं सका मैं खुद ही अपना उदाहरण
इसलिए कि ताज़ा कर पाऊँ शायद उसको
पड़ते हैं जैसे फूल चमेली के बासी
निर्गन्ध हुआ जाता है मेरा वर्तमान
इसलिए कि मेरा रूप बड़ा कुछ हो जाये
बढ़ते-बढ़ते मैं हुआ जा रहा था छोटा ।

—रघुबीर सहाय

आज की व्यवस्था में अपनी सीमाओं को जानते हुए डा० धर्मवीर भारती बड़े साहस के साथ कहते हैं—

मैं रथ का टूटा पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब इस दुरूह चक्रव्यूह में
अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय
बड़े-बड़े महारथी
अपने-अपने पथ को असत्य जानते हुए भी
निहत्थी अकेली आवाज़ को
अपने ब्रह्मास्त्रों से कुचल देना चाहें
तब मैं रथ का टूटा हुआ पहिया
उसके हाथों में ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूँ ।

—धर्मवीर भारती

नेमिचन्द्र जैन ने सत्य और मुक्ति की सीमा को अंकित करते हुए कहा है—

सत्य से भागो मत
मुक्ति सचमुच ही कटार है
पैना, दुधारी, अनासक्त,
जो पल भर में प्राणों के पटल चीर देती है
और कर देगी उजागर
जो
तुम्हारे ही जीवन का मर्म है,

प्यार है तुम्हारा,
जो तुम्हीं हो—
नंगी उस कटार से डरो मत
तुम्हीं, स्वयं तुम्हीं तो मुक्ति हो ।[1]

काल दृष्टि शीर्षक से समानान्तर सत्य को गिरिजाकुमार माथुर ने भी अंकित किया है—

निर्जन दूरियों के
ठोस दर्पणों में चलते हुए
सहसा मेरी एक देह
तीन देह हो गयी
उगकर एक बिन्दु पर
तीन अजनबी साथ चलने लगे
अलग दिशाओं में
और यह न ज्ञात हुआ
इनमें कौन मेरा है ।[2]

इतना अवश्य है कि आज नये कवियों की बाढ़ सी आ गई है। अपेक्षित प्रौढ़ता प्राप्त करने के पूर्व ही वे कवि बन जाते हैं परन्तु इसके लिए तो उनके साहस की दाद ही देनी चाहिए कि साहित्य के क्षेत्र में वे आ तो रहे हैं और इन सैकड़ों हजारों कवियों में यदि दस, पाँच भी टिक गए तो हमें सन्तोष करना चाहिए। नेमिचन्द्र जैन ने नये पन की रसग्राहिता और अनावश्यक महत्व को चुनौती देते हुए लिखा है—"नई कविता की संज्ञा केवल नवीन छन्द लय, शब्द, तथा भाव विन्यास वाली कविता का एकाधिकार नहीं है, वह इस युग की समूची सार्थक और सक्षम काव्य रचना को प्राप्त होनी चाहिए, चाहे वह किसी छन्द में और किसी दल के कवि की लिखी हुई क्यों न हो ?"

वास्तविकता तो यह है कि आज जहाँ हम हैं, वहाँ खड़े होकर ही आज की कविता को हम नयी कविता कहते हैं। आज से सत्तर पचहत्तर वर्ष बाद यही कविता पुरानी हो जायेगी। किसी युग में वीर रस, भक्ति और शृंगार की रचनाएँ भी नई कविता कही जाती रही होंगी, परन्तु आज वह सारा का

---

१. कल्पना—नेमिचन्द्र जैन—अप्रैल, ६३ पृ० २७
२. वही—गिरिजाकुमार माथुर—अप्रैल, ६३ पृ० ६७

सारा साहित्य प्राचीन काव्य के नाम से प्रसिद्ध है । आज का नया साहित्यकार संसार को ठोस मानकर और उसे सत्य एवं महत्वपूर्ण समझकर जीवन को सुखी और सुन्दर बनाने पर बल देता है । नयी कविता को वाणी मिली मार्क्स के जीवन दर्शन से । आज का साहित्यकार देश के स्वतन्त्र हो जाने के कारण स्वतन्त्रता पर या माँ की जंजीरें तोड़ दो, आदि गान नहीं गाता ।

प्रयोगवादी कवियों के कृतित्व पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने व्यक्तिवादी-अहंवादी दृष्टि का दृढ़ता से प्रतिपादन किया है । जब कभी प्रयोगवादी नये कवियों ने सामाजिक दिशाओं की ओर घूमकर देखा है वहीं इन कविताओं में प्रभावशाली अभिव्यक्तियाँ दी हैं । इनसे यह आशा भी जाग्रित हुई है कि भविष्य में कदाचित उनकी वाणी से ऐसे ही अनेकानेक स्वर अपनी सारी समग्रता में फूट सकते हैं । निराशा, कुंठा औद घुटन का व्यापक प्रदर्शन भी इनके काव्य की एक महत्वपूर्ण दिशा है, जिसका स्रोत भी उनके निर्माताओं की एकाँत व्यक्तिवादिता, आत्मलीनता एवं सामाजिक विषमताओं से एकाकी संघर्ष करने से प्राप्त असफलताओं में ही निहित है । कला और शिल्प में सक्षम इन कवियों की विशेषता यही है कि उन्होंने इन सबको बड़े ही सजीव रूप में प्रत्यक्ष किया है । क्षणवादी भावनाएं भी नयी कविता में गहरे संस्कारों के रूप में प्रतिष्ठित हैं । पीड़ा और दर्द की अभिव्यक्ति नयी कविता में बहुलता से हुई है । यह पीड़ा व्यापक अनुभूति को लेकर नहीं वरन् 'प्यार की पीड़ा' और 'प्यार के दर्द' के रूपमें ही अधिक अभिव्यक्ति हुई है जैसे भारती का 'ठंडा लोहा' । उपचेतन की उलझी हुई संवेदनाओं का भी यथावत चित्रण इसमें मिलता है । नये कवियों ने काव्य के क्षेत्र में नई काव्य-शक्ति, नयी व्यंजना-शैली और नवीन छन्द-विधान लाने का प्रयत्न किया है । काव्य-भाषा में विशेषणों का प्रयोग न्यूनातिन्यून करने की प्रथा ग्रहण की, शब्द-लय के साथ ही अर्थ-लय को मान्यता दी है तथा प्रतीक और बिम्ब-योजनाओं पर विशेष ध्यान दिया है । नया कवि भाषा को सरल नहीं, सामाजिक बनाने के लिए प्रयत्नशील है ।

नये कवियों ने अपने ही देश की संस्कृति के अतिरिक्त महादेशीय इतिहास भूगोल और संस्कृति को अपनी कविता में मूर्त करने का महान् कार्य किया है । राष्ट्रीयता में व्यापकता और गहराई आई है और नयी कविता का कैनवस बढ़ गया है । समसामयिकता की अभिव्यक्ति नयी कविता का युग बोध

है। उसने जीवन को उसकी समग्रता में ग्रहण किया है, जो जीवन्त और सत्य है। एक्यूरेसी उन्हें प्रिय है। वह केवल सुन्दर और कोमल द्रव्यों को ही नहीं चुनता वरन् रूखड़े, बेडौल, धूसर, मटमैले द्रव्यों को प्रधानता देता है। नयी कविता का आधार जीवन और यथार्थ है। केवल दर्शन या गंभीर तत्ववाद नहीं। आज की कविता में जो गीत काव्यात्मकता (Lyricism) का ज़ोर बढ़ रहा है यह इस बात का प्रमाण है कि नया कवि सरसता की टोह में है, वह केवल बौद्धिकता के प्रकाशन से सन्तुष्ट नहीं है। शम्भूनाथसिंह, रामदरश मिश्र, ठाकुर प्रसाद सिंह, रवीन्द्र भ्रमर, चन्द्रदेवसिंह, त्रिलोचन शास्त्री, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, अशोक वाजपेयी, कैलाश वाजपेयी, कीर्ति चौधरी, अजित कुमार, केदारनाथ सिंह, दुष्यन्त कुमार, धर्मवीर भारती, भारतभूषण अग्रवाल, केदारनाथ, गिरिजा कुमार माथुर, जगदीश गुप्त, भवानी प्रसाद मिश्र, महेन्द्र भटनागर, रतन सिंह, राजीव सक्सेना आदि सभी नये कवि कविता में एक नया आयाम प्रस्तुत करने के लिए सचेष्ट हैं। इन्होंने नयी कविता में नवीन धुनों, लयों, छन्दों और टेकों का प्रयोग किया है।

नयी कविता के इस युग में बिम्बों की बहुलता है। मन के अस्पष्ट भाव तथा कटुभाव सफल बिम्बों से प्रकट हुए हैं। पहरा देने वाले सिपाही के चित्र में उसके चेहरे की निर्ममता, पथरीला साँप का सा कहकर कवि ने सम्पूर्ण भयावह स्थिति को मूर्त करने का प्रयास किया है—

> भयावह सिपाही जाने किस थकी हुई झोंक में
> अँधेरे में सुलगाता सिगरेट अचानक
> ताँबे से चेहरे की ऐंठ झलकती।
> पथरीली शलवट
> दियासलाई की पलभर लौ में
> साँप-सी लगती।
>
> —चाँद का मुँह टेढ़ा है—मुक्तिबोध

स्पर्श के एक बिम्ब में प्रकृति का मानवीकरण करने के साथ ही उसे उपमान के रूप में अंकित किया गया है—

> तुम्हारा स्पर्श मन में सिमट आए
> इस तरह
> ज्यों एक मीठी धूप में

कोई बहुत ही शोख़ चेहरा खिलखिलाकर
सैकड़ों सूरजमुखी का-सा
दृष्टि की हर वासना में लिपट जाये
—तीसरा सप्तक-कुँवरनारायण

भाव बिम्ब की एक कल्पना 'तूफानों में नाव' कविता में देखिए—

समुद्र के तूफ़ान
मनुष्य ने नौका बन
जी लिये हैं
और नौका
समुद्र के तूफानों में
छुट गई है ।
—अभी और कुछ-शकुन्त माथुर

'नयी कविता' युग की नवीन परिस्थितियों की उपज है। नयी परिस्थितियों के साथ ही कवियों ने नए गीत गाए हैं। छायावाद के प्रमुख स्तम्भ श्री सुमित्रानन्दन पंत के काव्य ने भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद नया रूप बदला है। वह भी अरविन्द के दर्शन से प्रभावित होकर साहित्य में नवचेतनावाद लाए हैं। नए कवियों ने अध्यात्मक और धर्म की परिधि को स्वीकार नहीं किया है, वे सामाजिक चेतना पर ही अधिक बल देते हैं। इस कल्याण भावना की ओर मार्क्सवाद ने अबसे अधिक प्रेरणा दी है। नयी कविता के अधिकाँश लेखक मध्य वर्ग के ही हैं अतः उनकी वाणी में निराशा चिन्ता और वेदना के स्वर ही प्रधान हैं।

'नयी कविता' अभी विकास के पथ पर अग्रसर हो रही है। अतः उसके संबंध में कोई भी अन्तिम बात नहीं कही जा सकती है, यद्यपि इतना अवश्य है कि नई कविता के नये कवि नये युग की भावनाओं को जन्म दे रहे हैं। ईश्वर, संसार, प्रकृति और समाज सभी के प्रति उनका दृष्टिकोण बदलता जा रहा है। भावुकता के ह्रास के साथ ही बौद्धिकता का विकास भी हो रहा है। इन कवियों ने देश, जाति और वर्ग की सीमित परिधि से ऊपर उठकर समष्टिवाद का परिचय दिया है।

नयी कविता के आविर्भाव में प्रत्यक्षरूपेण युग और समाज जन्य

परिस्थितियों का बहुत बड़ा हाथ है। जीवन के वैषम्य, वेदन, प्रतिवेदन, कुण्ठा-घुटन संघर्ष एवं अन्यान्य सही गलत बनते-बिगड़ते उपकरणों का लेखा-जोखा नयी कविता की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। जब समाज की प्राचीन रूढ़ियाँ छूटती जा रही हैं और उन पर नई मान्यताएँ प्रतिष्ठित हो रही हैं, व्यक्ति अपनी संभावनाओं के प्रति सजग और आस्थावान होता जा रहा है, उसका क्षेत्र आज विस्तार पा रहा है, तब साहित्य में बौद्धिक और सांस्कृतिक परिवर्तन होना अवश्यम्भावी ही नहीं स्वाभाविक भी है। मेरे विचार से इस दिशा में ऐसी परिस्थितियों को अपने में समोकर चलाने का पहला और ठोस कदम नयी कविता ही है।

आज नयी कविता के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों द्वारा यह प्रश्न उठाये जाते हैं कि क्या इसका (नयी कविता) धरातल स्वस्थ है, उद्देश्यमूलक एवं जनप्रिय है। क्या इसका भविष्य उज्ज्वल है? इन विभिन्न प्रश्नों के सम्बन्ध में अधिकृत रूप से कुछ कहना हमारा अभिप्रेत नहीं है। कुछ लोगों का कथन है कि कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा जोड़ने से ही नयी कविता बन जाती है, अर्थात् शब्द शिल्प, शब्दविन्यास के नाम पर विभिन्न प्रचिलित और अप्रचिलित अनगढ़ शब्दों की अपनी कुंठित दमित आकाँक्षाओं एवं अनुभूतियों का माध्यम बनाकर पूरी कर लेना ही नयी कविता है।

वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। नयी कविता कुछ ऊल जलूल या कोरी बकवास नहीं है वरन् उसे समझने के लिए विशद अध्ययन, व्यापक तथा सूक्ष्म दृष्टिकोण के साथ ही एक धीर गम्भीर मूड (mood) की भी आवश्यकता है। इस प्रकार का अपेक्षित दृष्टिकोण रखकर भी यदि कविता के प्रतीक सन्दर्भ, शिल्प, दृश्यचित्र, मूर्तिविधान, व्यंग्य, प्रगतिशीलता, सूक्ष्म कल्पनावादिता सौंदर्यबोध स्थापनाएँ कुल मिलाकर एक चुभती हुई अभिव्यक्ति भी यदि किसी के हृदय के मर्म को न छू सकें तो हम फिराक़ के शब्दों में कहेंगे—

> 'जो ज़हरे हलाहल हैं अमृत भी वही नादाँ,
> मालूम नहीं तुझको अन्दाज़ है पीने का।'[1]

---

[1] फिराक़ गोरखपुरी—प्रकाश पंडित, पृ० ९६, दिल्ली, १९५८

जीवन को नए दृष्टिकोण से देखना, उसका सही मूल्यांकन प्रस्तुत करना ही नयी कविता की गहरी पकड़ है। वास्तव में नयी कविता के नयेपन को सजाने, संवारने और सजीव बनाए रखने का उत्तरदायित्व उन सभी नये कवियों पर हैं, जो कला और जीवन के प्रति जागरूक दृष्टिकोण रखते हैं और ईमानदारी से कला-साधना के पथ पर अग्रसर हैं।

# हिन्दी काव्य में करुण रस

काव्य में करुण रस के महत्व का मूल्याँकन करते हुए अंग्रेजी के कवि का यह कथन कितना औचित्यपूर्ण लगता है—'Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts, अर्थात् हमारे मधुरतम गीत वे हैं जो करुणतम भाव प्रकट करते हैं और फिर 'Pathos is the deepest song of life. जीवन का गहनतम गीत करुणा है। यही हृदय की मधुरतम प्रीति है। मानव की उच्चतम नीति है, जग की शाश्वत रीति है। करुणा के अभाव में विश्व का अस्तित्व मिट जाता, मानव का विकास रुक जाता, हृदय गति बन्द हो जाती, साँस की यति हो जाती, जीवन जीवन न रहता, कराहें क्या गातीं, उच्छवास सोये रहते, उद्‌गार खोये रहते, व्यथा क्योंकर रोती, वेदना क्यों मचला करती, उद्रेक कहाँ दिखता, विरह कहाँ रहता, साहित्य पंगु हो जाता और संगीत की मृत्यु हो जाती। करुणा के सहारे ही ये सारे व्यापार संचालित होते हैं।

करुणा का यही संदेश हमें आदि कवि बाल्मीकि के निम्नलिखित श्लोक में मिलता है—

मा निषाद, प्रतिष्ठान्वयगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काम मोहिताम्॥

—बाल्मीकि

रति में रत क्रौंच युगल में से व्याध द्वारा एक क्रौंच पक्षी का बध होने पर दूसरे का हृदय विदारक क्रन्दन सुनकर आदि कवि का कोमल संवेदनशील हृदय जब उस मर्मान्तिक व्यथा से विदीर्ण होकर असीम सम्वेदना के रूप में बहिर्गत हुआ, तभी सर्वप्रथम कविता की कुक्षि से करुण रस का प्रादुर्भाव हुआ। अन्य नौ-दस रसों का प्रादुर्भाव बाद में हो सका। इसी कारण करुण रस प्रधान माना गया। केवल हिन्दी में ही नहीं, संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध महाकवि

भवभूति जिनके लिए प्रसिद्ध हैं—'उपमा कालिदासस्य भवभूतिर्विशिष्यते' ने भी उत्तर-रामचरित महाकाव्य में करुण रस को ही प्राधान्य माना है और लिखा है—

> एको रसः करुण एव
> निमित्त भेदादिभन्नः पृथक् पृथगिदाश्रयते विवर्तान् ।
> आवर्त्त बुद बुद्तरंगमयान्
> विकाराम्भो यथा सलिलमेव तुप्समग्रम् ।।

अर्थात् करुण ही एक रस है जो निमित्त भेद से भिन्न हो जाता है और समुदायों में पृथक पृथक रूप से आश्रय लेता है। यह सब पानी की भाँति होता है जो भँवरों, बुलबुलों, तरंगों के रूप में दिखाई देता है।

हिन्दी काव्य के अंतर्गत हमें करुणा के विभिन्न रूप जायसी की नागमती में, तुलसी की सीता में, सूर की राधा और गोपियों में, मैथिलीशरण गुप्त की यशोधरा में, प्रसाद के आंसू और कामायनी में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त महादेवी की वेदना में निराला की 'वह तोड़ती पत्थर', 'विधवा' और 'भिखारी' आदि कविताओं में भी हमें करुण रस की प्रधानता मिलती है। आगे इस निबन्ध में प्रमुख कवियों की करुणा से पूर्ण कविताओं के उद्धरण दिए जा रहे हैं—

> अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
> आँचल में है दूध और आँखों में पानी ।।

—यशोधरा-मैथिलीशरण गुप्त

> जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति सी छाई।
> दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई ।।
>
> इस करुणा कलित हृदय में क्यों बिकल रागनी बजती।
> क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती ।।

—आँसू-प्रसाद

> अरे बता दो मुझे दयाकर, जहाँ प्रवासी है मेरा ?
> उसी बावले से मिलने को डाल रही हूं मैं फेरा ।।
> रूठ गया था अपनेपन से अपना सकी न उसको मैं।
> वह तो मेरा अपना ही था भला मनाती किसको मैं।

यही भूल अब शूल सदृश हो साल रही उर में मेरे।
कैसे पाऊंगी उसको मैं कोई आकर कह दे रे॥

—कामायनी-प्रसाद

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात।
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास,
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात,
जीवन विरह का जलजात।

—नीरजा-महादेवी वर्मा

इसी प्रकार की करुणापूर्ण निराला जी की अनेक कविताएँ हैं—

वह तोड़ती पत्थर,
देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर
कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
गुरू हथौड़ा हाथ करती बार बार प्रहार
सामने तरु-मालिका, अट्टालिका, प्राकार।

दलित विधवा का चित्र—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीपशिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल ताण्डव सी स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छूटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।

इस प्रकार समस्त हिन्दी काव्य करुण रस से सराबोर मिलता है। केवल हिन्दी ही नहीं वरन् विश्व का कोई भी ग्रंथ ऐसा नहीं है जिसमें करुण तत्व विद्यमान न हों। इलियड, ओडेसी, पैराडाइज लास्ट, रामायण, महाभारत, पद्मावत, कामायनी आदि महाकाव्य भी करुणा से आप्लावित हैं। इसी करुण भावना से प्रेरित होकर टेनिसन ने अपने प्रिन्सेस नामक काव्य में लिखा है—

"Tears, idle tears, I know not what they mean.
Tears from the depth of some divine despair,

Rise in the heart, and gather to the eyes,
In looking on the happy Autumn fields,
And thinking of the days that are no more"

अर्थात् मुझे नहीं मालूम कि मेरे इन अकारण अश्रुओं का रहस्य क्या है। जब मैं शरद् की प्रसन्नता से परिपूर्ण खेतों को देखता हूँ और उन दिनों की बात सोचता हूँ जो सदा के लिए बीत चुके हों, तो किसी स्वर्गीय वेदना की गहराई से ये आँसू हृदय में उमड़कर आँखों में समा जाते हैं।

संपूर्ण हिन्दी काव्य प्रधान रूप से करुणा के भावों से भरा हुआ है। आदिकाल में यद्यपि इस प्रकार के काव्य की रचना अवश्य कम हुई है परन्तु भक्ति युग में तो यह रस अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया है। मलिक मोहम्मद जायसी की विरहिणी नायिका नागमती का करुणा पूर्ण चित्र देखकर किसका हृदय न हिल उठेगा—

विरह बान तस लाग न डोली।
रकत पसीज भीजि गई चोली।
सखि हिय हेरिहार मैन मारी।
हहरि परान तजै अब नारी।
खिन एक आप पेट मँह स्वाँसा।
खिनहिं जाइ सब होइ निरासा।
पौनु डोलवहिं सींचहिं चोला।
पहर एक समुझहिं नारि मुख बोला।
प्रान पयान होत केइँ राखा।
को मिलाव चात्रिक की भाखा।
आह जो मारी बिरह की आगि उठी तेहि हाँक।
हंस जो रहा सरीर मँह पाँख जरे तन थाक॥

यह विरह वर्णन नागमती के विरह व्यथित हृदय की सम्वेदनात्मक स्थिति का द्योतक है। विप्रलंभ शृंगार का यह मर्मस्पर्शी उदाहरण है जिसमें रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। विरह वर्णन में कवि ने बारहमासा का भी प्रयोग किया है जिसमें ऋतु परिवर्तन के साथ आंतरिक मनोदशा का अपूर्व सामन्जस्य स्थापित किया गया है। इस वर्णन में विरहिणी के अन्तर और बाह्य की करुणा का सूक्ष्म अन्तर्दर्शन अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया है। बारहमासा

के इस निरूपण में वेदना का अत्यन्त निर्मल और कोमल स्वरूप, हिन्दू दाम्पत्य जीवन का अत्यन्त मर्मस्पर्शी माधुर्य अपने चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के साथ विशुद्ध भारतीय हृदय की साहचर्य भावना तथा विषयानुरूप भाषा का अत्यन्त स्निग्ध, सरल, मधुर और स्वाभाविक प्रवाह दृष्टव्य है। वसाख में नागमती की अन्तर्दशा के साथ बाह्य प्राकृतिक व्यापारों का सामंजस्य कितना मर्मस्पर्शी है—

'भा बैसाख तपनि अति लागी।
चोला चीर चंदन भौ आगी।
सूरज जरत हिवंचल ताका।
बिरह बजागि सौंह रथ हाँका।
जरत बजागिनि होउ पिय छाँहाँ।
आइ बुझाउ अँगारूह माँहाँ।
तोहि दरसन होइ सीतल नारी।
आइ आगि सों करू फुलवारी।
लागिउँ, जरौं जरै जस भारू।
बहुरि जो भूँजेसि तजौं न बारू।
सरवर हिया घटत निसि जाई।
टूक टूक होइ होइ बिहराई।
बिहरत हिया करहु, पिय! टेका।
दिस्टि दवँगरा मेखहु एका।
कँवल जो बिगसा मानसर छारहिं मिलै सुखाइ।
अबहूँ वेलि फिरि पलुटै जौं पिय सींचहु आइ॥

जायसी ने कहीं कहीं पर अतिशयोक्ति की ओट में विरह विधुरा नागमती द्वारा भौंरा और काग को सम्बोधन कराके वेदना को व्यक्त किया है—

पिउ सौं कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा। हे काग।
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहिक धुवाँ हम्ह लाग॥

कहीं पर उसके अन्तर की करुणा व्यक्त होती है—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाँव॥

तुलसी के 'मानस' में भी ऐसे विभिन्न स्थल दिखाई देते हैं जो करुणा के

कारण अधिक द्रावक हो गए हैं। राम का बनगमन, दशरथ मरण, सीताहरण और लक्ष्मण मूर्छा आदि ऐसे ही प्रसंग कहे जा सकते हैं जिनमें करुणा मानों फूट पड़ी है। इन प्रसंगों में करुण रस की पूर्ण निष्पत्ति हुई है। राम बनगमन का प्रसंग देखिए—

मुख सुखाहिं लोचन स्त्रवहिं सोकु न हृदय समाइ।
मनहुँ करून रस कटकई उतरी अवध बजाइ॥

× × ×

राम चलत अति भयउ विषादू।
सुनि न जाइ पुर आरत नादू॥
कुसगुन लंक अवध अति सोकू।
हरष विषाद बिवस सुरलोकू॥
लागति अवध भयावनि भारी।
मानहुँ काल राति अंधियारी॥
घोर जंतु सम पुर नर नारी।
डरपहिं एकहि एक निहारी॥
घर मसान परिजन जनु भूता।
सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं।
सरित सरोवर देखि न जाहीं॥
बिधि कैकई किरातिनि कीन्हीं।
जेहिं दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्ही॥
सहि न सके रघुवर बिरहागी।
चले लोग सब व्याकुल भागी।

× × ×

करि विलाप सब रोवहिं रानी।
महाबिपति किमि जाइ बखानी।
सुनि बिलाप दुखहू दुखु लागा।
धीरजहू कर धीरज भागा॥

इसमें चित्रित करुणा असह्य है। प्राणप्रिय राम का वियोग असह्य होने पर दशरथ अपना शरीर त्याग देते हैं। करुण रस के ऐसे प्रसंग अन्यत्र कम ही

मिल सकेंगे। एक हृदय विदारक दृश्य और द्रष्टव्य है—

हा रघुनन्दन प्रान पिरीते।
तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते॥
हा जानकी लखन हा रघुबर।
हा पितु हित चित चातक जलधर॥
राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरह राउ गयउ सुरधाम॥

इसके अतिरिक्त 'सीताहरण' और 'लक्ष्मण शक्ति' के प्रसंग और भी अधिक करुणा पूरित होने के कारण हृदय द्रावक हो गए हैं। सीताहरण के समय सीता जी के विलाप का करुण दृश्य देखिए—

हा जग एक बीर रघुराया।
केहि अपराध बिसारेहु दाया।
आरति हरन सरन सुखदायक।
हा रघुकुल सरोज दिन नायक।
हा लछिमन तुम्हार नहिं दोसा।
सो फल पायँउ कीन्हेउँ रोसा।
विविध विलाप करति वैदेही।
भूरि कृपा प्रभु दूरि सनेही॥
विपति मोरि को प्रभुहिं सुनावा।
पुरोडास चह रासभ खावा।
सीता कै विलाप सुनि भारी।
भए चराचर जीव दुखारी॥

दूसरी ओर सीताहरण के कारण राम भी दुःखी हैं। उनका विलाप भी करुणा जनित है—

हा हा गुन खानि जानकी सीता।
रूप सील व्रत नेम पुनीता॥
लछिमन समुझाए बहु भाँती।
पूछत चले लता तरु पाँती॥
हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी।
तुम देखी सीता मृगनैनी॥

खंजन सुक कपोत मृग मीना।
मधुप निकर कोकिला प्रवीना ॥

इसी प्रकार 'लक्ष्मण मूर्छा' का स्थल भी बड़ा ही मार्मिक है—

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
विपति बटावन बंध बाहु बिन करौं भरोसो काको।
सुन सुग्रीव साँचेहू मोपर फेर्‍यो बदन विधाता।
ऐसे समय समर संकट हौं तज्यौ लखन सो भ्राता।
गिरि कानन जैहैं शाखामृग हौं पुनि अनुज संघाती।
है है कहा विभीषन की गति, रही सोच भरि छाती ॥

ठीक इसी प्रकार के करुणा जनित दृश्य हमें सूर के महाकाव्य 'सूरसागर' में भी कृष्ण वियोग प्रसंग में मिल जाते हैं। राधा और गोपियों के विरहवर्णन से सूरसागर भरा पड़ा है। वेदना की विपुल तरंगे सर्वत्र छाई हुई हैं। मानों गोपियों के विरह सागर में व्यथा का ज्वार आ गया है। सूर का समस्त वियोग शृंगार करुणा के घने रंग में रंगा है। वियोगिनी गोपियाँ मधुबन को अपने समान न पाकर उससे द्वेष करती हुई कहती हैं—

"मधुवन ! तुम कत रहत हरे ?
विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।
तुम हो निलज, लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे।
ससा स्यार और बन के पखेरू धिकधिक सबन करे।
कौन काज ठाढ़े रहे बन में, काहे न उकठि परे ?"

सूर के करुणा विषयक कुछ अन्य प्रसंग देखिए—

सखी इन नैनन सौं घन हारे।
बिनहीं रितु बरसत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे।
ऊरध स्वास समीर तेज अति सुख अनेक द्रुम डारे।
बदन सदन करि बसे बचन-खग दुःख पावस के मारे।
दुरि-दुरि बूँद परति कंचुकि पर, मिलि अंजन सौं कारे।
मानौ परनकुटी सिव कीन्हीं, बिवि मूरत धरि न्यारे।
घुमरि-घुमरि बरसत जल छाँडत, डर लागत अंधियारे।
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखै, बिनु गिरिवर धर प्यारे।

निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पै जब तें स्याम सिधारे।
दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ उर कपोल भये कारे।
कंचुकि नहिं सूखत सुनु सजनी, उर बिच बहत पनारे।
सूरदास प्रभु अम्बु बढ़ायो है गोकुल लेहु उबारे।
कहँ लौं कहौं स्याम घन सुन्दर विकल होत अतिभारे।

यह नेत्रों से जो मोती बिखरे हैं वह असीम व्यक्ति के वियोग में बिखरे हैं। पुनः सूर की गोपियाँ उसकी विकलता से द्रवित दिखाई देती हैं—

अँखियाँ हरि दर्शन की प्यासी।
देख्यो चाहत कमल नैन को निसिदिन रहत उदासी।
आये ऊधो फिरि गये आँगन डारि गये गर फाँसी।
केसरि तिलक मोतिन की माला बृन्दावन को वासी।
काहू के मन की कोऊ न जानत लोगन के मन हाँसी।
सूरदास प्रभु तुमरे दरस को जाइ करबत ल्यौं कासी।

इसी प्रकार सूर की करुणा नेत्र व्यापार का वर्णन करने में आश्रयपक्ष का भी आलम्बन लेती है—

मेरे नैना विरह की बेल बई।
सींचत नीर नैन के सजनी मूल पताल गई।
विगसति लता सुभाय आपने छाया सघन भई।
अब कैसे निरूवारौं, सजनी सब तन पसरि छई।

भक्त कवियों की सहज बह निकलने वाली करुणा रीति काल में आते आते सूख गई। रीतिकालीन कविता में शृंगार रस की प्रधानता हुई और चमत्कारपूर्ण हृदयहीन कविता को आश्रय मिला। करुणा जनित वाणी कुछ काल के लिए बन्द रही और आगे चलकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी द्वारा पुनः अभिव्यक्ति पा सकी। उन्होंने कहा ही है—

रोवहु सब मिलि के आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

द्विवेदी युग में डॉ० मैथिलीशरण गुप्त द्वारा काव्य में करुणा का सागर बहाया गया। 'साकेत' और 'यशोधरा' मूलरूप से करुणा के रंग में रंगे हुए हैं, वैसे भारत-भारती और जयद्रथ-बध में भी ऐसे अनेक प्रसंग हैं जो करुणा पूरित

हैं। अभिमन्यु की मृत्यु होती है और उसकी धर्मपत्नी उत्तरा उसका शरीर गोद में रखकर विलाप करती है वह दृश्य करुण रस से पूरित हो गया है—

फिर पीटकर सिर और छाती अश्रु बरसाती हुई।
कुररी सदृश सकरुण गिरा से दैन्य दरसाती हुई॥
बहु विधि विलाप प्रलाप वह करने लगी उस लोक में।
निजि प्रिय वियोग समान दुख होता न कोई लोक में॥

साकेत और यशोधरा में गुप्त जी की करुणा पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। साकेत का सारा नवम सर्ग उर्मिला के करुणा जनित आँसुओं से भर गया है। इस सर्ग के एक-एक वर्ण बिन्दु में उसकी विरह वेदना और करुणा का सिंधु उमड़ सा पड़ा है। करुणा का यह सिन्धु उर्मिला को प्रिय है क्योंकि यह प्रिय वियोग से ही तो मिला है, इसलिए प्राण प्रिय इस वेदना में वह अपनी घनी चाह पा लेती है—

वेदने ! तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
अरी वियोग-समाधि अनोखी तू क्या ठीक ठनी।
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची तनी॥

विरहणी यशोधरा की अन्तर्व्यथा, करुणा जनित कवि मैथिलीशरण गुप्त की मर्मस्पर्शिणी सम्वेदनात्मक अनुभूति का सशक्त स्पर्श पाकर नारीत्व के दो बिन्दु 'पत्नीत्व' और 'मातृत्व' की सप्राण संज्ञा पा जाती है और करुणा स्वयं रो पड़ती है—

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी।
आंचल में है दूध और आँखों में पानी॥

यशोधरा के हृदय में बार-बार हूक उठती है—

सखि वे मुझसे कहकर जाते।
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ बाधा ही पाते॥

उसकी मर्म वेदना उसे व्यथित करती है—और वह कह उठती है—

सिद्धि हेतु स्वामी गए, यह गौरव की बात।
पर चोरी-चोरी गए, यही बड़ा व्याघात॥

गुप्त जी के पश्चात् द्विवेदी युग में कविता को करुण रस से सीचने वालों में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय और सियाराम शरण गुप्त का नाम आता है।

हरिऔध जी ने प्रियप्रवास में 'यशोदा विलाप' अंश के द्वारा किसे करुण रस से ओत-प्रोत नहीं किया देखिए—

प्रियतम ! अब मेरा कंठ में प्राण आया ।
सच सच बतला दो प्राण प्यारा कहाँ है ।।
यदि मिल ना सकेगा जीवनाधार मेरा ।
तब फिर निज पापी प्राण मैं क्यों रखूँगी ।।
परम सुयश वाले कोशलाधीश ही हैं ।
प्रिय सुत वन जाते ही नहीं जी सके जो ।।
यह हृदय हमारा ब्रज्र से ही बना है ।
यह तुरत नहीं जो सैंकड़ों खण्ड होता है ।।
निज प्रिय मणि को जो सर्प खोता कभी है ।
तड़प तड़प के तो है प्राण त्याग देता ।।
मम सदृश मही में कौन पापीयसी है ।
हृदय मणि गवाँ के नाथ जो जीविता हूँ ।।
लघुतर सफरी भी भाग्यवाली बड़ी है ।
अलग सलिल से हो प्राण जो त्यागती है ।।
अहह अवनि में हूँ मैं महाभाग्य हीना ।
अब तक बिछुड़े जो लाल के जी सकी हूँ ।।

× × ×

बहुत सुन चुकी हूँ और कैसे सहूंगी ।
पवि सदृग-कलेजा मैं कहाँ पा सकूंगी ।।
इस कृशित हमारे गात को प्राण त्यागो ।
बन विवश नहीं तो नित्य रो रो मरूँगी ।।
हा ! वृद्धा के अतुल धन हा ! वृद्धता के सहारे ।
हा ! प्राणों के परम प्रिय हा ! एक मेरे दुलारे ।।
हा ! शोभा के सदन सम हा ! रूप लावण्य वाले ।
हा ! बेटा हा । हृदय धन हा ! नेत्र तारे हमारे ।।
कैसे होके अलग तुमसे आज भी मैं बची हूँ ।
जो मैं ही हूं समझ न सकी तो तुझे क्या बताऊँ ।।

हाँ जीऊँगी न अब पर है वेदना एक होती।
तेरा प्यारा वदन मरती बार मैंने न देखा ॥

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि ने पुत्र विरह विदग्धा माँ की मर्मवेदना को भलीभाँति पहचाना है। इसलिए विरहिणी माता के वात्सल्यमय हृदय की सम्पूर्ण करुणा काव्य के माध्यम से दिग्दर्शित करने में कवि सफल हुआ है।

करुण रस से राष्ट्रीय काव्यधारा को उद्वेलित करने वालों में पं० माखन लाल चतुर्वेदी, श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान एवं पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का नाम उल्लेखनीय है। चतुर्वेदी जी की 'पुष्प की अभिलाषा' नामक कविता की ओट में उनकी करुण कामना की कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है—

"चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी माला में बिंध, प्यारी को ललचाऊँ।
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि ! डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना बनमाली,
उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ आवें वीर अनेक ॥

अपनी प्रसिद्ध राष्ट्रीय कविता 'कैदी और कोकिला' में कोकिला को सम्बोधित करते हुए उनकी करुणा का दृश्य देखिए—

क्यों हूक पड़ी ?
वेदना—बोझ वाली सी,
कोकिल बोलो तो !
क्या लुटा ?
मृदुल वैभव की रखवाली सी,
कोकिल बोलो तो !

× × ×

क्या ?—देख न सकती जंजीरों का गहना ?
हथकड़ियाँ क्यों ? यह ब्रिटिश राज का गहना।

कोल्हू का चर्रक चूँ ?—जीवन की तान,
गिट्टी पर अँगुलियों ने लिखे गान ?
हूं मोट खींचता लगा पेट पर जूंआ,
खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूआं ।
दिल में करुणा क्यों जगे, रुलाने वाली,
इसलिए रात में गजब ढा रही आली ?
इस शान्त समय में,
अंधकार को बेध, रो रही क्यों हो ?
कोकिल बोलो तो ।

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की प्रसिद्ध राष्ट्रीय कविता 'झांसी की रानी' के कुछ करुण दृश्य दृष्टव्य हैं—

हाय घिरी अब रानी थी ।

× × ×

तो भी रानी मारकाट कर चलती बनी सैन्य के पार ।
किन्तु सामने नाला आया, था यह संकट विषम अपार ।
घोड़ा अड़ा, नया घोड़ा था, इतने में आ गये सवार,
रानी एक, शत्रु बहुतेरे, होने लगे वार पर वार ।
घायल होकर गिरी सिंहनी, उसे वीरगति पानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह, हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी ।"

पंडित बालकृष्ण शर्मा की देशप्रेम और विद्रोह, सम्बन्धी कविताओं में उनके हृदय की करुणा झंकृत होती है । उनके 'पराजयगीत' की आर्द्र झंकार किसे द्रवित न कर देगी—

अंचल ? कहाँ फटा अंचल वह माँ का प्यारा वस्त्र कहाँ ?
अर्धनग्न, रुग्णा कपूत की माँ का लज्जा अस्त्र कहाँ ?
कहाँ छिपाऊँ यह मुख अपना ? खोकर विजय फकीर हुआ ;
आज खड्ग की धार कुंठिता, है खाली तूणीर हुआ ।
जहाँ विजय के पिपासार्त हो—गए आँख की ओट कई,
जहाँ जूझ कर मरे अनेकों जहाँ खा गए चोट कई ।

वहीं आज सन्ध्या को बैठा हूँ मैं अपनी निधि छोड़े,
कई सियार, श्वान, गीदड़—ये लपक रहे दौड़े-दौड़े।

× × ×

रग रग में ठंडा पानी है अरे उष्णता चली गई,
नस-नस में टीसें उठती हैं विजय दूर तक टली सही।
विजय नहीं रण के प्रांगण की धूल बटोरे लाया हूँ।
हिय के घावों में, वर्दी के चिथड़ों में ले आया हूँ।
टूटे अस्त्र, धूल माथे पर, हा! कैसा मैं वीर हुआ;
आज खड्ग की धार कुंठिता है खाली तूणीर हुआ।"

आधुनिक हिन्दी काव्य का छायावादी युग अपनी करुणा के लिए प्रसिद्ध ही है। इस युग की कविताओं में करुणा के स्रोत का कारण परतन्त्रता की निराशा, दैन्य, शोक, विषाद, वेदना आदि भावों की प्रबलता थी। आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक विषमताओं के कारण कवियों की कविताएँ करुण भावों से सराबोर हैं। छायावादी युग के प्रमुख प्रहरी जयशंकर प्रसाद जी का काव्य साहित्य करुणा और वेदना की अनेक मार्मिक भावनाओं से भरा हुआ है। इसकी छटा आँसू काव्य में दर्शनीय है। प्रसाद के नेत्रों के आँसू असीम के वियोग में निकले हैं। आँसू में हृदय को हिला देने वाली वेदना है—

"जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति सी छायी।
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आयी॥"

× × ×

छिल छिल कर छाले फोड़े, मल मल कर मृदुल चरण से।
घुल घुल कर बह बह जाते, आँसू करुणा के कण से॥

× × ×

अभिलाषाओं की करवट फिर सुप्त व्यथा का जगना।
सुख का सपना हो जाना, भीगी पलकों का लगना॥
रो रोकर सिसक सिसक कर कहता मैं करुण-कहानी॥
तुम सुमन नोचते सुनते करते जानी अनजानी॥
झंझा झकोर गर्जन था, बिजली थी नीरद माला।
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला॥

× × ×

वेदना विमल फिर आई मेरी चौदहों भुवन में।
सुख कहीं न दिया दिखाई, विश्राम कहाँ जीवन में ।।

इसी प्रकार प्रसाद जी के नाटकों में भी यह करूणा व्याप्त दिखाई देती है। वेदना उनके गीतों की तन्त्री है। अजातशत्रु नाटक में विरूद्धक का यह गीत कितना अधिक मर्मस्पर्शी है—

बरस पड़े क्यों आज अचानक ? सरसिज कानन का संकोच ?
अरे जलद में भी यह ज्वाला ? झुके हुए क्यों। किसका सोच
किस निष्ठुर ठंडे हृत्तल में जमें रहे तुम बर्फ समान ?
पिघल रहे किसकी गरमी से, हे करूणा के जीवन प्राण ?
चपला की व्याकुलता लेकर, चातक का ले करुण कलाप,
तारा आँसू पोछ गगन के, रोते हो किस दुख से आप ?

उनके प्रसिद्ध नाटक 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना की करुणा कितनी सजीव हो उठी है—

आह ! वेदना मिली विदाई !
मैंने भ्रमवश जीवन-संचित
मधुकरियों की भीख लुटाई ।
छल-छल थे सन्धया के श्रमकण,
आँसू से गिरते थे प्रतिक्षण,
मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनन्त अगँडाई !

× × ×

लगी सतृष्ण दीठ थी सबकी
रही बचाये फिरती कब की
मेरी आशा आह ! बावली।
आह ! वेदना मिली विदाई ।।

प्रसाद जी ने इसी प्रकार ध्रुवस्वामिनी नाटक में मन्दाकिनी के गान द्वारा करुणा, वेदना और अतीत का दिग्दर्शन कराया है। इस गीत में एक दर्दीला स्वर है उसमें तड़पती अतृप्त आत्मा की पुकार है, विश्व-कल्याण की कामना करती हुई यह कसक कितनी सजीव, कितनी मर्मस्पर्शी है—

यह कसक अरे आँसू सह जा।
बनकर विनम्र अभिमान मुझे
मेरा अस्तित्व बता, रह जा।
बन प्रेम छलक कोने-कोने
अपनी नीरव गाथा कह जा।
करुणा बन दुखिया बसुधा पर
शीतलता फैलाता बह जा।

प्रसाद के पश्चात् निराला जी में यही करुणा अत्यन्त सजीव रूप में दिखाई देती है। एक भिक्षुक की दयनीय दशा का सच्चा चित्र देखिए—

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बायें से वे मलते हुए पेट को चलते।
और दाहिना दयादृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।
भूख से सूख ओंठ जब जाते
दाता—भाग्य विधाता से क्या पाते ?—
घूँट आँसुओं के पीकर रह जाते।
चाट रहे जूठीपत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए॥

युगमनु पंत जी भी दुःख को ही कविता का मूल मानते हैं। उनकी दृष्टि में, अज्ञात रूप से आँखों से उमड़कर चुपचाप बहनेवाली कविता की पंक्तियाँ करुणा से ही उद्भूत हैं—

वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान

उमड़ कर आंखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान !!

प्रकृति के माध्यम से वे हृदय की समस्त वेदनाओं को शांति प्रदान करते हैं—

तेरे उज्जवल आँसू सुमनों में सदा,
बास करेंगे भग्न हृदय ! उनकी व्यथा
अनिल पोंछेगी, करुण उनकी कथा
मधुप बालिकाएँ गाएँगी सर्वदा ।

पंत जी बिना अश्रु के जीवन को निःसार और भार मानते हुए कहते हैं—

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार
दीन दुर्बल है संसार
इसी से क्षमा, दया और प्यार ।

महादेवी वर्मा का काव्य सर्वत्र करुणा के दुःखवाद से आक्रान्त दिखाई देता है । वे इस पीड़ा में भी आनन्द का अनुभव करती हैं क्योंकि वह ब्रह्म की देन है । विरह से उन्हें विशेष मोह है, तभी वे कहती हैं—'मैं विरह में चिर हूँ' । वे पीड़ा में प्रिय को और प्रिय में पीड़ा को ढूँढना चाहती हैं—

'तुमको पीड़ा में ढूँढा,
तुममें मैं ढूढूँगी पीड़ा ।'

उनकी काव्य वेदना आध्यात्मिक है । उसमें आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय निवेदन है । कवि की आत्मा मानों विश्व में बिछुड़ी हुई प्रेयसी की भाँति अपने प्रियतम का स्मरण करती है । उनकी दृष्टि में विश्व की संपूर्ण प्राकृतिक शोभा सुषमा एक अनन्त अलौकिक चिर सुन्दर की छाया मात्र है । प्रिय आगमन का आभास मिलने पर वे कह उठती हैं—

नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय
आज हो रही कैसी उलझन ।
पुलकों से भर फूल बन गये
जितने प्राणों के छाले हैं ।।

प्रियतम के विरह से उत्पन्न वेदना निरन्तर उनके साथ बेबसी से जुड़ जाने

के कारण उनकी अपनी सम्पत्ति बन जाती है । वे वेदना के मधुर क्रम में चिर तृप्ति का संसार संचित पाती है—

"एक करुण अभाव में चिर तृप्ति का संसार संचित ।
एक लघु क्षण दे रहा निर्वाण के वरदान शतशत,
पा लिया मैंने किसे, इस वेदना के मधुर क्रम में,
कौन तुम मेरे हृदय में ।।"

अपनी इस दुःखवादी वेदना के स्पष्टीकरण में स्वयं उन्होंने लिखा भी है—'दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है । हमारे असंख्य सुख चाहे हमें मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूंद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर अधिक उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता । विश्व जीवन में अपने जीवन को विश्व वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल विन्दु में मिल जाता है कवि का मोक्ष है ।' करुण रस प्रधान काव्य के क्षेत्र में महादेवी अग्रगण्य हैं ।

महादेवी जी ने स्वासों के तार में अपने स्वप्नों को गूँथकर वेदना-चर्चित वंदनवार बनाया है । जीवन के घट को दुःख रूपी जल से भरा है । उनके दोनों नेत्र झिलमिलाते हुए दो दीपक हैं आँसू का तेल भरा जा रहा है और सुधरूपी बाती जलकर पद ध्वनि पर प्रकाश कर रही है ।

इसके अतिरिक्त कुछ लोक गीतों में भी यह करुण रस की भावना व्याप्त दिखाई देती है । हिन्दू समाज में नारी जीवन की यातनाएँ कैसी होती हैं । घर के सब काम काज करना तथा खाने पीने के लिए सबसे पीछे बचा-खुचा मिलना जीवन की चेतना को आमूल नष्टकर 'चांद-सूरज' सी सुन्दर बहिन को कोयला जैसी बना ही डाला । उसके हृदय का दाह उसे जलाकर भस्म कर देता तो क्या आश्चर्य ? इस पर भी वह किसी से नहीं कहती क्योंकि वह जानती है कि उसके दुःखों को सुनकर उसकी माँ छाती पीटकर मर जायेगी । पिता समाज में रो पड़ेगा । छोटी बहिन यह यातनाएँ जानकर ससुराल के नाम से काँपेगी । भाभी और चाची ताने मारेंगी । कितनी हृदय विदारक व्यथा है । पर इसे भाग्य का लेखा-जोखा समझ कर वह असह्य वेदना को सहन करती हुई कहती है—

चन्दा सुरूज अस बहिनी संकल्प्यो हो ना
बहिनी जरि जरि मइली कोइलिया हो ना

× × ×

कई मन कूटों भैया कई मन पीसीली हो ना
सासू खाँची भर बसना मँजावे ली हो ना
भैया बाँचि जाली पिछली टिकरिया हो ना
पहिरौं मैं भइया मोरे सबकर उतरवा हो ना
ई दुख जनि कहि भइया माई के अँगवा हो ना
माई छतिया बिहरि मरि जइहें हो ना
ई दुख भइया जनि कहो बाबा के अँगवा हो ना
सभवा बइठि बाबा रोइहें हो ना
ई दुख जनि कहो भइया बहिनी के अँगवा हो ना
बहिनी हाल सुनि ससुराल न जाई हो ना
ई दुख भइया तू मन ही मे गड़िह हो ना
भइया करम लिखल तस भोगबि हो ना

निपुत्रत्व नारी का दुःखातिरेकपूर्ण हृदय विदारक दृश्य कितना मनोवैज्ञानिक है। इस अभिशाप के कारण वह गंगा में डूब मरने की याचना करती हुई कहती है—

गंगे एक लहरी हमें देउ तो जामें डूबि जैयौं,
अरे जामें डूबि जैयौं······!

उसकी याचना की अलौकिक कल्पना का चित्र साहित्य की उड़ान से दूर मानव की सहज करुण अनुभूति का उद्घाटन करती है—

आई धन तन मन मारि राजे मेरे पिछवारे बढ़ई कौ
काठ पुतर गढ़ि देउ सो बाइ लैकें उठिहौं, बाइ लैकें बैठिहौं
राजे काठ पुतर जिउ डारौ तौ जाई लैकें उठि हौं—
जाइ लेकें सोमें।

इस व्यथिता की वेदना कितनी करुणा जन्य है।

वैधव्य नारी जीवन की परम शोकपूर्ण परिस्थिति है जिसके अन्तर्गत जीवन की करूण गाथा ही व्याप्त दिखाई देती है। समाज का अभिशाप, यौवन

की कामोत्तेजना उसके सात्विक जीवन में बन जाती है जब उसका देवर उससे छेड़छाड़ करता है। सास ससुर आदर्शों की रक्षा करते हैं। छिटकी चाँदनी और देवर की छेड़छाड़ के प्रतिबन्धों के बीच विवश एवं असहाय अबला का चीत्कार निकल ही उठता है—

चननिनियाँ छटकी, मो का करौं राम
गंगा मोर मइया जमुनी मोर बहिनी
चाँद सुरज दूनौं भइया······मो का करौं राम।'

उसकी यह वेदना करुण कराह के रूप में वायु मण्डल में व्याप्त हो जाती है।

श्रावण का महीना है। घर-घर झूले पड़े हुए हैं। एक ब्राह्मण के घर 'सोहगी' आई है। लड़की की माँ अपनी बेटी को कण्डे लेने के लिए भेजती है। बिटौरे में से कण्डे निकालते समय लड़की को काला नाग काट लेता है और इधर माता पुकारती ही रह जाती है—

सुहावनी रितु आई सावन की,
ओ घन बरसै।
बरसै मेह मेह गए नगर नारे,
घर घर झूला परे हिंडौरे भारे,
ओ झूलै नगर की नारि,
ये बिटियनु कौ त्यौहार,
सोहगी बामन के आई, कै रितु आई सावन की।

× ×

अरे बड़ौ भात कौ हण्डा,
नेकि दौरि कै जाउ बिटौरा मांउ,
तनिक मोइ लाइदै कंडा, अरे खड़ी बाकी माता ए।

× ×

अरे पहुँची बिटौरा मांझ,
खयेला और चुटीला बेंदा दयें लिलार,
बनी पूनौ कौ सौ चंदा।
औ अचक तारि लिये कंडा,

जाय खाइगौ कारौ नाग
जहर कौ लग गयौ हो फंदा, ठाडी टेरे वाकी मात ए।

× ×

खायगौ करूआ नागु,
बीरन देउ बुलाय
अब तुम में नानै साझौ, बेटी जम फटिगे, आजु
ए बासुकि हौ कारौ, ठाड़ी टेरै बाकी मात ए।

ऐसे गीत की मर्मस्पर्शी अनुभूति किसके अंतस को प्रभावित न करेगी। ऐसे गीतों में करुण रस की हृदय विदीर्ण करने वाली अनुभूति भरी हुई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त हिन्दी काव्य करुण रस की भावधारा से विभिन्न युगों में आप्लावित रहा है। वस्तुतः यदि रसों में शृंगार रस रसराज है तो स्थायीभाव की अनुभूति की व्यापकता और तीव्रता में खड़ा होने वाला करूण रस। करूण रस कविता का आदि स्रोत है। जितनी सहानुभूति और आद्रता करूण रस में है उतनी और किसी में नहीं।

## हिन्दी का हास्य-काव्य

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। हँसना उसका स्वाभाविक लक्षण है। जीवन के आस्वादन के लिए परिमित हँसी आवश्यक है। हँसी जीवन का विटामिन है, जिसके अभाव में जीवन रस की परिपुष्टि नहीं। परन्तु सबसे अच्छा हास्य वही है जो कोमलता और कृपा के भावों से भरा हो।[१] युग की परम्परा के अनुकूल सदैव से असामाजिक व्यक्ति समाज की प्रचलित कुरीतियों एवं अन्य विकृतियों के कारण हास्य के आलम्बन बनते आये हैं। वीरगाथा काल में कायर, भक्ति-युग में पाखंडी, रीतियुग में सूम और आधुनिक युग में नेता आदि हास्य के आलम्बन बनाए गए हैं। बर्गसाँ ने इसीलिए लिखा भी है—'हास्य कुछ इस प्रकार का होना चाहिए जिसमें सामाजिकता झलकती हो। यह जिस भय को उत्पन्न करता है, इसके सनकीपन पर रोक लगती है। यह मनुष्य को सदैव अपने पारस्परिक आदान-प्रदान के उन निम्नस्तरीय कार्यों के प्रति सचेत रखता है। संक्षेप में यह तान्त्रिक क्रिया के फलस्वरूप किए जाने वाले व्यवहार को मृदुल बनाता है।[२] कभी-कभी व्यंग और हास्य से समाज की बड़ी-बड़ी विकृतियाँ दूर हो जाती हैं। हास्य की महत्ता को जी० पी० श्रीवास्तव ने एक

---

१. The best humour is that which is flavoured throughout with liveliness and kindness."

—Humour and Humour—Thackeray

२. Laughter must be something of this kind, a sort of social gesture. By the fear which it inspires, it restrains eccentricity, keeps constanly awake and in mutual contact certain activities of a secondary order which might retire in to their shell and to go to Sleep, and, short, softens downs what ever the surface of the social body may retain of mechanical in elasticity.

—Laughter. By. Henri Bergson. page 20.

स्थान पर व्यक्त करते हुए लिखा है —"बुराई रूपी पापों के लिए इससे बढ़कर कोई दूसरा गंगाजल नहीं है। यह वह हथियार है जो बड़े-बड़ों के मिज़ाज चुटकियों में ठीक कर देता है। यह कोड़ा है जो मनुष्यों को सीधी राह से बह कने नहीं देता।[१] वास्तव में यदि देखा जाय तो जीवन मार्ग में अनेक ऊबड़-खाबड़ स्थान मिलते हैं जिनमें लोगों को ठोकरें, धक्के और झटके लगते हैं उस समय सदा प्रसन्न रहने वाले लोगों के लिए हास्य मानों मुलायम गद्दों का काम देता है। ऐसे लोगों की जीवन यात्रा बहुत ही सुगम और सुखपूर्ण हुआ करती है।

भरतमुनि के अनुसार—'शृंगार रस की अनुकृति हास्य है। अनुकृति (नकल) हँसी की जड़ है। किसी की बात-चीत, चाल-ढाल, वेश-भूषा आदि की अनुकृति जब विनोदार्थ की जाती है तब हास्य का प्रादुर्भाव होता है। 'धनंजय' ने भी हास्य के उद्रेक का कारण यही माना है और लिखा है—

'विकृता कृति वाग्विशेषैरात्मनोऽथ परस्य वा।
हासः स्यात् परिपोषोस्य हास्याभि प्रकृतिः स्मृतः।[२]

साहित्यदर्पणकार के अनुसार—"वागदिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते" अर्थात् वाणी, वेष, भूषणादि की विपरीतता से जो चित्र का विकास होता है, वह हास्य कहलाता है। इन्होंने इसके ६ भेद किए हैं—

ज्येष्ठानां स्मित हसिते मध्यानां विहसिता बहसिते च।
नीचानामयहसितं तथापि हसितं तदेष षड्भेद ॥
ईषद्विकामिनयनं स्मितं स्यात्यन्दिताधरम्।
किंचिल्लक्ष्यद्विर्यं तत्र हसितं कथितं बुधैः ॥
मधुर स्वरं विहसितं सांसशिरः कम्पमवहसितम्।
अपहसितं सास्त्राक्ष विक्षिप्ताङ्ग (च) भवत्यति हसितम् ॥[३]

अर्थात्, स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित आदि, जिनमें स्मित और हसित श्रेष्ठ लोगों के योग्य हैं, विहसित और उप-हसित मध्यम श्रेणी के लोगों के योग्य हैं और शेष हास मध्यम कोटि के हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने भी इसकी पुष्टि करते हुए लिखा है —

१—हास्यरस—जी० पी० श्रीवास्तव—पृष्ठ. १२
२—दशरूपक—धनंजय—(४. प्रकाश) पृष्ठ. ७५
३—साहित्यदर्पण—शालिग्राम की टीका—पृष्ठ. १५८, श्लोक—२१७

'वस्तुत: अपने प्रभाव की दृष्टि से हास्य तीन प्रकार का माना गया, उत्तम मध्यम और अधम। इन तीनों प्रकारों में प्रत्येक के दो भेद हैं। उत्तम के भेद हैं स्मित और हसित, मध्यम के भेद हैं विहसित और उपहसित तथा अधम के भेद हैं अपहसित और अतिहसित। ये प्रत्येक भेद आत्मस्थ और परस्थ हो सकते हैं। इस प्रकार निम्नलिखित प्रकार से हँसने की क्रिया बारह तरह से हो सकती है[1]—

| | | | |
|---|---|---|---|
| | उत्तम | स्मित | आत्मस्थ |
| | | | परस्थ |
| | | हसित | आत्मस्थ |
| | | | परस्थ |
| हास्य :— | मध्यम | विहसित | आत्मस्थ |
| | | | परस्थ |
| | | उपहसित | आत्मस्थ |
| | | | परस्थ |
| | अधम | अपहसित | आत्मस्थ |
| | | | परस्थ |
| | | अतिहसित | आत्मस्थ |
| | | | परस्थ |

पाश्चात्य विद्वानों ने हास्य के पाँच प्रभेद किए हैं—

१—स्मित हास्य (Humour)
२—वाक्छल या वाग्वैदग्ध्य (Wit)
३—व्यंग्य (Satire)
४—वक्रोक्ति (Irony)
५—प्रहसन (Farce)

**स्मित हास्य** वास्तव में एक अत्यन्त सूक्ष्म और तरल मानसिक वृत्ति है। सली के मतानुसार 'एक मनोविकार होते हुए भी यह बौद्धिकता का पर्याप्त अंश लिए हुए है।[2] इसकी प्रकृति का निर्माण, संयम, सहानुभूति, चिन्तन तथा

---

१. दृश्य काव्य में हास्य-तत्व—आलोचना, १९५५, डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ६४.

२. Humour is distinctly a sentiment yet at the same time it is markedly in tellectual.' —Sally.

करुणा आदि गुणों पर निर्भर है। निकल ने लिखा है 'स्मित के लिए समझदारी आवश्यक है जब कि हँसना बेसमझदारी का हो सकता है। इसके लिए एक विशेष प्रकार के चिन्तन की भी आवश्यकता है जो केवल शुष्क चिन्तन ही न हो वरन् मनुष्यत्व पर सहानुभूतिपूर्ण विचार करने के उपरान्त उत्पन्न हुआ हो।[1] हिन्दी में ऐसे निष्प्रयोजन, संवेदनशील एवं करुणासिक्त हास्य का अभाव सा है।

वाक् की विदग्धता के कारण जो उक्ति चमत्कार होता है उसे 'विट' कहते हैं। यह हास्य का एक बौद्धिक श्रोत है। एडीसन ने इसके लिए लिखा है 'पदार्थों के जिस सम्बन्ध दर्शन में पाठकों या श्रोताओं में प्रसन्नता और आश्चर्य या चमत्कृति उत्पन्न हो और उसमें भी विशेषत: चमत्कृति जान पड़े, उसे 'विट' कहते है।[2] फ्रायड ने इसको दो रूपों में माना है—

१—सहज चमत्कार (Harmless wit)
२—प्रवृत्ति चमत्कार (Tendency wit)

सहज चमत्कार वह है जिसमें केवल विनोद मात्र रहता है किन्तु प्रवृत्ति चमत्कार में ऐन्द्रियक या प्रतीकारात्मक भावना रहती है। हैजलिट ने स्मित हास्य और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण का तुलनात्मक रूप अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'Humour and wit' में प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

"Humour is describing the ludicrous as it is in itself, wit is the exposing it by comparing or contrasting it with something else. Humour is as it were the growth of natural and acquired absurdities of mankind or of the ludicrous in accidental situation and character; Wit is the illustrating and hightening the sense of that absurdity by some sudden and

---

१. If insensibility is demanded for pure laughter, sensibility is rendered necessary for true humour. However we shall find it is often related to melancholy of a peculiar kind, not a fierce melancholy and a melancholy that arises out of pensive thoughts and a brooding on the ways of mankind."
—An Introduction to Dramatic theory—A Nicol.

२. Wit is the resemblance or contrast of ideas that give the reader delight and surprise, especially the latter":—Addison.

unexpected likeness or opposition of one thing to another which sets of the thing we laugh at or despise in a still more contemptible or striking point of view.

व्यंग्य (Satire) को ही उर्दू में हजो कहते हैं। व्यंग्य सदैव सोद्देश्य होता है। 'आइडिया आव कमिडी' के पृ० ७९ पर मेरीडिथ ने लिखा है—'अगर आप हास्यास्पद का अत्यधिक मजाक उड़ाते हैं कि उसमें आपकी दयालुता समाप्त हो जाय तो आपका हास्य व्यंग्य की कोटि में आ जाएगा।[१] वस्तुतः बात ऐसी है कि जब रहस्य विशद आनन्द या रंजन को छोड़ प्रयोजननिष्ठ हो जाता है तब वहाँ पर व्यंग्य का सहारा लेता है। आलम्बन के प्रति तिरस्कार उपेक्षा या भर्त्सना की भावना लेकर बढ़ने वाला हास्य व्यंग्य कहलाता है। 'निकल' तो यहाँ तक कहता है कि 'व्यंग्य में नैतिकता का अभाव होता है, इसमें दया, करुणा, उदारता के लिए गुंजाइश नहीं होती। मनुष्य की शारीरिक असम्बद्धता, चारित्रिक असम्बद्धता एवं सामाजिक असम्बद्धता पर यह निर्भयता से प्रहार करता है। व्यंग्य की भाषा में गुदगुदी कम, तिक्तता अधिक रहती है।[२] हिन्दी में यह प्रचुर मात्रा में मिलता है। रीतिकालीन 'भड़ौवे' व्यंग्य प्रधान ही हुआ करते थे।

वक्रोक्ति (Irony) वहाँ होती है जहाँ किसी वाक्य को कहा किसी और प्रकार से जाय और उसका अर्थ दूसरा निकले। निकल के अनुसार वक्रोक्ति में जिस वस्तु में हम विश्वास नहीं करते उसमें विश्वास दिखाते हैं तथा हास्य में जिस वस्तु में हम वास्तव में विश्वास करते हैं उसमें अविश्वास दिखाते हैं।[३]

---

१. "If you detect ridicule and your kindliness is chilled by it you are slipping into the grasp of satire."

—Idea of Comedy—Meridith. page. 79.

२. Satire can be so bitter that it ceases to be laughable in the very least. Satire falls heavily. It has no moral sence. It has no pity, no kindliness, no magnanimity. It lashes the physical appearance of person, sometimes with unmitigated cruelty. It attacks the character of men. It Strikes at the manners of the age with a hand that spares not.

—An Introduction to Dramatic Theory—A. Nicol,

३. I bid—"In irony we pretend to believe what we do not believe, in humour we pretend to disbelieve what we actually believe."

भारतीय दृष्टान्तों में मधुमक्खी इसके प्रतीक के रूप में ली जा सकती है जिसका नाम और तीखा दंश अनुभवी ही जान पाते हैं। मेरीडिथ ने लिखा है—वक्रोक्ति व्यंग्य का हास है, यह 'स्विफ्ट' की भाँति कठोरतम भी हो सकता है जिसमें साथ में नैतिक लक्ष्य भी हो और 'गिबन' की भाँति गम्भीर भी हो सकता है जो द्वेषपूर्ण हो।[१] प्रो० जगदीश पांडे का मत इस सम्बन्ध में बहुत कुछ तथ्य सम्मत प्रतीत होता है वे कहते हैं कि 'वक्रोक्तिकार भी धनुष की भांति झूठी नम्रता में झुककर तीर की तरह चोट करता है इसमें स्तुति तथा निन्दा दोनों झूठी होती हैं।[२]

प्रहसन (Farce) को अंग्रेजी में कौमेडी भी कहते हैं। प्रहसन का हास्य व्यक्तिगत नहीं होता, उसमें असाधारण नम्रता होती है जो अधिक से अधिक एक मुस्कान अवश्य ला देती है। बर्गसाँ के अनुसार 'प्रहसन में हमारे जाने पहचाने चरित्रों का ही चित्रण होता है जिसमें साम्य का सदैव ध्यान रखा जाता है।[३]

मूलरूप से हिन्दी में हास्य की परम्परा वीर गाथा काल से ही पाई जाती है। और इस प्रकार कबीरदास हिन्दी के प्रथम हास्य कवि माने जा सकते हैं। जायसी ने रत्न और पद्मा के प्रथम मिलन (मधु-चन्द्र) प्रसंग में हास्य की योजना को उद्धत किया है सूर ने इसके अनेक प्रयोग किए हैं। भ्रमरगीत व्यंग्य की एक धरोहर ही है। तुलसी के मानस में भी यत्र तत्र इसके दर्शन होते हैं। रहीम और बिहारी ने भी हास्य के दोहे, सवैया लिखे। इस प्रकार वीरगाथा युग में कायर, भक्ति युग में आडम्बरी साधु नेता, सूर के ऊधव, तुलसी के नारद, परशुराम, रीति युग में वैद्य, खटमल और सूम रहे हैं।

भारतेन्दु जी रीति और आधुनिक युग के संगम पर अवतीर्ण हुए थे।

---

१. 'Irony is the humour of satire, it may be savage as in swift with a moral object or sedate as in Gibbon with a malicious."

The Idea of Comedy-Meridith. page. 82.

२—हास्य के सिद्धान्त—प्रो० जगदीश पाँडे

३. Comedy depicts character we have already come across and shall meet with again. It takes notes of similarities.

Laughter —Bergson. page. 163.

उनके युग से ही कविता में परिवर्तन हुआ और हास्य के क्षेत्र में नवीनता आई। इनका युग हास्य काव्य का स्वर्णिम युग था क्योंकि 'हरिश्चन्द्र' तथा उनके सम-सामयिक लेखकों में जो एक सामान्य गुण लक्षित होता है वह है सजीवता या ज़िन्दादिली। सब में हास्य विनोद की मात्रा थोड़ी बहुत पाई जाती हैं।[1] द्विवेदी युग में अधिकतर गम्भीरता का वातावरण व्याप्त रहा परन्तु उनके बाद आधुनिक काल में हास्य पूर्ण कविताओं का प्रचार निरन्तर बढ़ता गया।

वस्तुतः भारतेन्दु जी की हास्यपूर्ण कविताएँ उनके नाटकीय ग्रंथों में मिलती हैं और कुछ समसमायिक पत्रिकाओं में। अपनी भावनाओं को उन्होंने जनता में प्रचलित छन्दों में व्यक्त किया है। अंग्रेजी, शिक्षा और बेरोज़गारी तथा लाल पगड़ी पर उनकी मार्मिक चुटकी देखिये[2]—

"सब गुरुजन को बुरो बतावैं,
अपनी खिचड़ी आप पकावैं।
भीतर तत्व न झूँठी तेजी,
क्यों सखि सज्जन नहिं अंग्रेजी।
"तीन बुलाए तेरह आवैं,
निज निज विपदा रोइ सुनावैं।
आँखें फूटें भरा न पेट,
क्यों सखि सज्जन नहिं ग्रेजुएट।"
"रूप दिखावत सरबस लूटैं,
फन्दे में जो पड़े न छूटैं।
कपट कटारी हिय में हुलिस,
क्यों सखि सज्जन नहिं सखि पुलिस।

समाज में प्रचलित तत्कालीन दूषण 'मदिरा पान' पर भी उनका व्यंग्य द्रष्टव्य है—

होटल में मदिरा पियें, चोट लगे नहिं लाज,
लोट लए ठाढ़े रहत, टोटल देवैं काज।"[3]

---

१. हिन्दी सा० का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ, ३९३.

२. भारतेन्दु-युग—पृ०. १३८.

३. भारतेन्दु ग्रंथावली—पृ०. ३८१.

समाज के पाखण्डियों पर यह करारा व्यंग्य है। सामाजिक दुर्बलताएं इनकी दृष्टि से बच नहीं सकी हैं और इसी कारण उन्होंने मुशायरे के लिए कहा भी है—

'मुशायरा: चिड़ीमार का टोला,
जहाँ भाँति भाँति का जानवर बोला !

पं० प्रतापनारायण मिश्र का व्यंग्यात्मक हास्य उच्चकोटि का था। मिश्र जी यद्यपि स्वयं सनातनधर्मी थे परन्तु वे उन पांखड़ियों की धज्जियां उड़ाने में नही चूकते थे। ऐसे पंडितों की कमी न थी जिनके घर पर वेद के निशान भी नहीं थे किन्तु वे दयानन्द पर ईंट फेंकने को तैयार थे—

पोथी केहि के घर ते आवें, कबहू सपन्यौ देखा नाहिं,
रिगविद जुजविद साम अरथ बन, सुनियत आल्हखण्ड के माँहि।[१]

× × ×

मरत मरत दयानन्द मरिगैं, हिन्दू रहे आयु तक सोय,
पूत बियाहैं पाँच बरस को, गहने धरत फिरैं घरबार॥[२]

बालमुकुन्द गुप्त जी का व्यंग्य भी हिन्दी हास्य काव्य में बड़े महत्व का है। इनकी काव्य भाषा में उर्दू का चुलबुलापन और रवानगी मिलती है। दूसरों के पैसे पर शान दिखाने वालों पर यह करारी चोट देखिए—

मुझसा कोई हुआ न होगा।
यह जाने कोई जानन जोगा।
मैं जो कुछ चाहूं सो होय।
मेरे ऊपर और न कोय।
राजा का भाई था आया।
उसको भी नीचा दिखलाया।
पहले मुझको मिला सलाम।
तब फिर उससे हुआ कलाम।
मुझको सोना उसको चाँदी।
मुझको बीबी उसको बाँदी॥[३]

---

१. प्रताप लहरी—पृ०. ६५.

२. वही—पृ०. २१०.

३. गुप्त निबंधावली-प्रथम भाग—पृ०. ७१०.

आज का व्यंग्य साहित्य अधिक उन्नत, अधिक तीखा, अधिक शर्करा और मंडित है परन्तु उसमें वह स्वाभाविकता नहीं जो गुप्त जी आदि कवियों में निहित थी।

पं० शिवनाथ शर्मा ने एक आल्हा 'राजनैतिक दंगल' शीर्षक से लिखा था जिसके अन्तर्गत पढ़े लिखे लोगों की राजनैतिक पहलवानी का भंडाफोड़ सभा सोसाइटियों के झगड़े के रूप में अंकित किया गया है—

'रास बिहारी बने सभापति, तिलक तिलक बिन सूने माथ,
यह कब नव दल देख सकैं बस, बाताबाती चलिगैं हाथ।
"हम मारिंगे", "हम पाटिंगे" कहि कहि गरम चले लठ तान,
जूता जूती सोटा डंडा, लगे चलन, मचिगो घमसान।
चली द्वन्द्व की झपटा झपटी, विषधर कांग्रेस मैदान,
लगी चोट जब भागे भैया, प्रतिनिधि करि हाय-हाय की तान।
लेडी काँपैं, साहब नाचैं, लै लै सभ्य साज को नाम,
अल्ला अल्ला करैं मुसल्ला, हिन्दुन परो राम ते काम।[1]

द्विवेदी जी स्वयं पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करने वालों से चिढ़ते थे उन्होंने 'कल्हू अलैहत' नाम से 'सरगौ नरक ठिकाना नाहिं' शीर्षक व्यंग्य से ऐसे लोगों पर लिखा है—

'अचकनु पहिरि बूट हम डांटा, बाबू बनेन डेरात डेरात,
लागे न जावे-जाय समझ माँ, कण्ठु फूट तब बना बतात।
जब तक हमरे तन माँ तनिकौ, रहा गाँउ के रस का अंसु,
तब तक हम अखबार किताबैं, लिख लिख कीन उजागर बंसु[2]

इसके अतिरिक्त सत्साहित्य को हरीघास की उपमा देकर तथा रद्दी साहित्य को भैंसे की उपमा देकर बड़े ही सुन्दर रूप में निबाहा गया है। यह संकेत उन रचनाओं के लिए है जिन्हें सम्पादक अच्छा समझते हुए भी लेखकों को सधन्यवाद वापस कर दिया करते थे—

हरीघास खुरखुरी लगै अति, भूसा लगै करारा है,
दाना भूलि पेट यदि पहुँचै, काटै अस जस आरा है।

---

१. मिस्टर व्यास की कथा—पृष्ठ. १०८.

२. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग—डॉ० उदयभानुसिंह—पृष्ठ. १८०.

लच्छेदार चीथड़े कूड़ा, जिन्हें बुहार निकारा है,
सोई सुनो सुजान शिरोमणि, मोहनभोग हमारा है।[1]

नाथूराम 'शंकर' का व्यंग्य बड़ा ही चुटीला होता है। अन्धविश्वासों और फैशन परस्तों पर उनकी फब्तियाँ देखी जा सकती हैं—

'ईस गिरजा को छोड, ईश गिरजा में जाय,
शंकर सलोने मैन मिस्टर कहावेंगे।
बूट पतलून कोट कम्फर्टर टोपी डाट,
जाकट की पाकट में वाच लटकावेंगे।
घूमेंगे घमंडी बने रंडी का पकड़ हाथ,
पियेंगे वरंडो मीट होटल में खावेंगे।
फारसी की छारसी उड़ाय अंग्रेजी पढ़,
मानों देवनागरी का नाम ही मिटावेंगे।[2]

पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी द्विवेदी युग के हास्य सम्राट कहलाते हैं। इनका हास्य वाणीजन्य रहा है। इस प्रतिभा सम्पन्न लेखक की कुछ पंक्तियाँ हास्य रसाँक से उद्धृत की जा सकती है। पाखंडी और स्वार्थी व्यक्ति का एक चित्र देखिए—

"किसी धर्म पर जब नहीं भक्ती।
हुई मेम से तब अनुरक्ती।
ईसा पर विश्वास जगाया।
क्रिस्तानी से नेह लगाया।
आय पिता ने लाट जमाई।
फिरी राय तब मेरी भाई।
है मौका तब ऐसा आता।
बदल विचार सभी का जाता।[3]

'सरोजस्मृति' में निराला जी ने 'वृद्ध विवाह' पर तीखा व्यंग्य करते हुए लिखा है—

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग—डा० उदयभानु सिंह—पृ० १८१.
२. अनुराग रत्न—पृ० २३६.
३. प्रेमा (हास्यरसाँक) अप्रैल १९३१, पृ० ६७.

"ये कान्यकुब्ज-कुल कुलाँगार
खाकर पत्तल में करें छेद,
इनके वर-कन्या अर्थ खेद।"

'कुकुरमुत्ता' धनीमानी व्यक्तियों के प्रति तीखा व्यंग्य है। यह सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधि स्वरूप है। इसका व्यंग्य द्वयर्थक है—

बोले, चल गुलाव जहाँ थे, उगा,
हम भी सबके साथ चाहते हैं अब कुकुरमुत्ता।
बोला माली—'फर्माएँ मुआफ खता"
कुकुरमुत्ता उगाये नहीं उगता।"

× × ×

पहाड़ी से सर ऐंठ कर बोला,
अबे, सुन बे गुलाब,
भूल मत गर पाई खुशबू, रंगो आब।
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतरा रहा कैपीटलिस्ट।

× × ×

तू नहीं मैं ही बड़ा।"[1]

निराला ने आज के साहित्यिकों को भी अपने व्यंग्य का माध्यम बनाया। अंग्रेजी के प्रसिद्ध प्रयोगवादी कलाकार टी० एस० इलियट पर उनके नए प्रयोगों को लक्ष्य करके निराला ने लिखा है—

"कहीं का रोड़ कहीं का पत्थर,
टी० एस० इलियट ने दे मारा,
पढ़ने वालों ने जिगर पर रखकर,
हाथ कहा लिख दिया जहाँ सारा।"

पं० हरिशंकर शर्मा ने अपनी 'चपर पंच' कविता में पंचों की अच्छी खबर ली है—

रकम दूसरों की गटकते रहो,
सरासट माला सटकते रहो।

---

१. कुकुरमुत्ता—निराला पृ० ३३.

बनो धर्म के धाम संसार में,
अड़ाओ सदा टाँग उपकार में।
पकड़ गाय दो चार चन्दा करो,
न पानी पिलाओ न चन्दा धरो।
स्वयं मौज मारो मजे में रहो
भजो भोर गोपाल 'शिव-शिव' कहो।[१]

शर्मा जी के व्यंग्य की गहराई उच्चकोटि की होती है। चार आने में काँग्रेस के सदस्य बनने की बात को उन्होंने 'चवन्नी का चमत्कार' कविता में कितने सुन्दर रूप में अंकित किया है—

जो देश-भक्ति से द्रोह किया करते थे।
जो अमन सभा की महिमा पर मरते थे।
जनता में निशदिन भीरुभाव भरते थे।
वे आज चवन्नी चन्दे को भुगताकर।
बन रहे तपस्या-पुंज सकल गुण आकर।[२]

शर्मा जी इसी कारण से समाज सुधार में काफी सफल रहे हैं।

आधुनिक व्यंग्यकार कलाकारों में बेढ़ब बनारसी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे उर्दू छन्दों और अंग्रेजी शब्दों से अधिक प्रभावित लगते हैं। अपने प्रसिद्ध काव्य-संग्रह 'बहक' में उन्होंने लिखा भी है कि 'जैसे कुछ लोग कला कला के लिए की दुहाई देते हैं, मैं विनोद विनोद के लिए लिखता हूँ।" क्योंकि वे व्यंग्य को 'हास्य की आत्मा' मानने के पक्ष में हैं। बेढ़ब जी में पर्यवेक्षण की मेधा शक्ति है। उन्होंने समाज के दूषणों को आलोचक की पैनी दृष्टि से देखा है और बेकारी, फैशन परस्ती, विदेशी सभ्यता की गुलामी, हाकिमों की खुशामद आदि विषयों पर बड़े सुन्दर मार्मिक व्यंग लिखे हैं। मिनिस्टरों की पूजा करने वालों पर यह चुटकी कितनी फबती है देखिए—

"उन्हें दुनिया से क्या मतलब, मिनिस्टर के जो बन्दे हैं,
कहीं वह आगये तो पार्टी औ खूब चन्दे हैं।

---

१. चिड़ियाघर—पं० हरिशंकर शर्मा-पृ० ६८
२. पिंजरापोल—वही-पृ० ११६

किसी स्कूल विद्यालय का डेपूटेशन जो ले जाओ,
तो कहते हैं कि भाई आजकल व्यापार मन्दे हैं ।[1]

बेकार ग्रेजुएट को आलम्बन बनाकर उसकी विचित्र वेशभूषा पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा है—

पहनकर सूट डिगरी लेके क्लर्की खोजते हैं हम,
पढ़ी दस साल अंग्रेजी, यही अन्जाम है इसका ।

फैशन के गुलामों को आलम्बन बनाकर बेढ़ब जी ने लिखा है—

बड़ी इन्सल्ट है मेरी जो कहना बाप का मानू,
नहीं इंगलिश पढ़ी और रौब वह इतना जमाते हैं ।
न बदरीनाथ जाते हैं, न अब जाते हैं वह काशी,
मिसों के दरशनों को लंदनों पैरिस वह जाते हैं ।[2]

'बचनेश' जी का उत्कृष्ट व्यंग अत्यधिक चमत्कार पूर्ण है । उनकी 'बम का गोला' कविता में उक्ति वैचित्र्य देखिए—

'बम बम का शब्द सुना बंगले के पास ही में,
चीख उठी मेम सिर साहब का तमका ।
फोन किया लेन को तो बचनेश फौरन ही,
पुलिस समेत कप्तान आय धमका ।
घेर कर बाबा की कुटी की ली तलाशी,
वहाँ छिपा पत्तियों में कुछ गोल-गोल चमका ।
हाथ से टटोला तब जाना बम बोला साधु,
लिंग है ये भोला का न गोला यहाँ बम का ।'[3]

बेधड़क जी का नाम भी रुबाइयों, शेरों के कारण प्रसिद्ध है । बेढ़ब की भाँति ही अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग में इन्होंने हास्य को अंकित किया है । इनका व्यंग्य अधिकतर सामाजिक होता है । आजकल के स्वार्थी मित्रों से परेशान होकर वे कहते हैं—

"हास्य रस में ही लिखा करता हूं मैं,
और यों मनहूसियत हरता हूँ मैं

---

१. बेढ़ब की बहक—बेढ़ब बनारसी पृ० ९८
२. बेढ़ब की बहक—बेढ़ब बनारसी-पृ० ३३
३. 'बम का गोला'-बचनेश-सरस्वती, अगस्त, १९५४.

नाम मेरा हो भले ही बेधड़क,
दोस्तों से बहुत ही डरता हूं मैं।
'एक्सक्यूज़ मी' कहते हुए घर में घुसे,
'प्लीज़' कहकर माँग ली मेरी किताब।
'थैंक्यू' कहकर वे चलते बने,
आजकल की दोस्ती ऐसी जनाब।[1]

इसी प्रकार गोपाल प्रसाद व्यास ने आजकल के बनावटी कवियों पर व्यंग्य किया है—

'आखिर हिन्दी का लेखक था हो गई ज़रा सी वाह-वाह,
दो चार किताबें छपीं कि बस, गुब्बारे जैसा फूल गया।
फिर क्या था बातों बातों में,
कवि कालिदास को मात किया।
खा गए सूर तुलसी चक्कर,
जब मैंने दिन को रात किया।
और इस युग के कवि अरे राम,
वह तो सब निरे अनाड़ी हैं।[2]

अवधी भाषा में रमई काका के व्यंग्य बड़े उत्तम बन पड़े हैं। इनके व्यंग्य अधिकतर ग्रामीण और नागरिक समाजों पर हैं। 'धोखा' शीर्षक कविता फैशन परस्तों और आधुनिक सभ्यता पर ही लिखी गई हैं—

'म्वाछन का कीन्हे सफाचट, मुँह पाउडर और सिर केश बड़े,
तहमद पहिने अंडी ओढ़े, बाबू जी बाँके रहे खड़े।
इन कहा मेम साहब सलाम, उइ बोले चुप बे डैमफूल,
मैं मेम नहीं हूँ, साहब हूँ, हम कहा फिरिउ धोखा होइगा।[3]

कुंज बिहारी पाण्डेय की आधुनिक विषमताओं पर व्यंग्य करते हुए नकली नेता के खोखलेपन पर तथा धूर्तता का पर्दा फास कर दिया है। नेता की जबानी

---

१. धर्मयुग होलिकाँक—मार्च १९५३, बेधड़क
२. अजी सुनो—गोपाल प्रसाद व्यास. पृ० १७१.
३. बौछार—रमई काका, पृ० ६८

सुनिए—

> कभी दबाया पूँजीपति को, और कभी मजदूर दबाये,
> इस प्रकार दोनों के बीच पड़ा हूँ अपनी टाँग अड़ाये ।[1]

बंशीधर शुक्ल, देहाती जी, पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी और दिनकर के व्यंग्य भी बड़े तीखे होते हैं । हास्य के प्रभेदों के अन्तर्गत भी व्यंग्य की ही प्रधानता दिखाई देती है ।

इधर आगरा निवासी सुकवि 'सुभाषी' श्री थानसिंह शर्मा की ब्रजभाषा में लिखित हास्य-व्यंग्य की रचनाओं ने उन्हें जनप्रिय बना दिया है । अपनी 'नेहरू के नाम पाती' रचना में उन्होंने शिष्य मण्डलों, समितियों और संघों की खोखली राजनीति पर व्यंग्य किया है । 'कूआ भाँग परी में' देश के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार का भण्डा फोड़ दिया है । इनका व्यंग्य तीक्ष्ण न होकर गुदगुदाने वाला होता है ।

आज के आधुनिक बाने में रंगे हुए दम्पति के उपहास चित्र को अंकित करते हुए प्रार्थना करते हैं—

> ए हो भगवान दया एती नाथ कीजै आजु,
> दीजै वरदान एक स्कूटर पाऊँ मैं ।
> वाइफ़ को लाइ ताइ गुड़िया बनाइ,
> निज पीछे कों बिठाइ हाथ कँधा पै धराऊँ मैं ।
> माल रोड़, कैण्ट, खास खास ठौर जोरनिसों,
> काम बिना काम घने चक्कर लगाऊँ मैं ।
> पाऊँ खूब मान, करूँ नई पहचानि रोज,
> सड़कन फिरौं फर्र उड़ जाऊँ मैं ।[2]

इसी प्रकार वे तंग वेशभूषा और स्त्रियोचित हाव भावों के प्रति उन्मुख होने वाले छात्रों पर सन्देह प्रकट करते हुए कहते हैं—

> बिखरे-से बार, खरे नखरा है बेसुमार,
> माँग बीच में बिसेस रूचि सौं बनाई है ।

---

१. उपवन—कुंज बिहारी पाँडे-पृ०. ३३.

२. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २३ जून-१९६३ पृ० ८.

मेकप में कुसल, मधुर मुख मुस्कान,
चाल लचकीली-सी निगाह सरमाई है।
लाल रंग की सजीली जरकिन चैंनदार,
चिपकी-सी पतलून अजब सिमाई है।
मूंछन सफाई, जिन्हें वीरता न भाई, ऐसे,
छात्र हैं कि छात्रा सों न परत लखाई है।[1]

आजकल 'काका हाथरसी' का भी हास्य में महत्वपूर्ण स्थान हो गया है। 'राष्ट्रीय अजगर' शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा है—

क्या कहा.........समर्थन ?
हाँ-हाँ, चुनाव लड़ते समय हमने
किया था समर्थन हिन्दी का।
और अब करते हैं अंग्रेजी का।
अवसर आयेगा तो पक्ष लेंगे
तेलगू, तमिल, उर्दू और उड़िया का
शराब की बोतल और भंग की पुड़िया का।
सौ बातों की एक बात है तात।
दूल्हे के इशारे पर चलती है बारात।
हम तो जैसा देखते हैं सरकार का रंग,
वैसी ही उड़ाते है पतंग।[2]

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी में हास्य काव्य भारतेन्दु काल से मिलता है। उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में इसका प्रकाशन होता था और सरकारी अफसर हिन्दी के विरोध आलम्बन बनते थे। द्विवेदी युग में धार्मिक पाखंड, बाल-विवाह, वृद्ध विवाह आलम्बन बने। आधुनिक युग में राजनैनिक नेता, योजनाएँ, फैशन आदि आलम्बन बने। वस्तुतः हिन्दी के हास्य काव्य की समृद्धि आधुनिक युग की ही देन है।

---

१. सप्ताहिक हिन्दुस्तान—२३ जून, १९६३,पृ० ४८
२. साप्ताहिक हिन्दुस्तान—२३ जून १९६३ पृ० ५४.

# हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण

प्रकृति और मानव का अटूट सम्बन्ध है। मानव प्रकृति की गोद में जन्म लेकर पलता पनपता है। सत रूपी प्रकृति, चित्त-रूपी जीवन और आनन्द रूपी परम-तत्व तीनों मिलकर परमेश्वर की सत्ता का रूप ग्रहण करते हैं। आकाश, सूर्य, चन्द्र, तारामण्डल, समुद्र, बिजली, बादल, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे आदि सब मिलकर ही प्रकृति जगत् का निर्माण करते हैं। इन्हें देखकर मानव आत्मा गंभीर आनंद में सराबोर हो जाती है, उसका हृदय अभिनव उल्लास में गूंज उठता है। प्रकृति के नाना रूपों जैसे—अषाढ़ में श्याम सलोने बादल, चैत की चाँदनी आदि को देखकर मानव मन कुछ काल के लिए अपने को भूल सा जाता है। प्रकृति हमारे कवियों की कविता के लिए प्रेरणा स्रोत ही नहीं, सौंदर्य का भण्डार, कल्पना और अनुभूति का सागर भी रही है। सृष्टि के उषा काल में जब आदि मानव ने नेत्र खोले होंगे तो संभवतः उसको सर्वप्रथम प्रकृति का ही साहचर्य और सहयोग प्राप्त हुआ होगा। महादेवी वर्मा के विचार से 'दृश्य प्रकृति मानव जीवन को अथ से इति तक चक्रवाल की तरह घेरे रही है। प्रकृति के विविध कोमल-परुष, सुन्दर-असुन्दर, व्यक्त रहस्यमय रूपों के आकर्षण-विकर्षण ने मानव की बुद्धि और हृदय को कितना परिष्कार और विस्तार दिया है इसका लेखा जोखा करने पर मनुष्य प्रकृति का सबसे अधिक ऋणी ठहरेगा। वस्तुतः संस्कार क्रम में मानव जाति का भाव जगत ही नहीं, उसके चिंतन की दिशाएँ भी प्रकृति के विविध रूपात्मक परिचय द्वारा तथा उससे उत्पन्न अनुभूतियों से प्रभावित हैं।"

वन, पर्वत, निर्झर, नदी, नाले, सन्ध्या, प्रभात आदि प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों तथा चित्रों के साथ मनुष्य के हृदय का रागात्मक सम्बन्ध है। निर्झर में उसे संगीत सुनाई देता है, गुलाब के पुष्प में स्वास्थ्य और सौंदर्य की द्योतक किसी रमणी की मुखश्री की आरक्त आभा दिखाई देती है। सन्ध्या सुन्दरी

चुपचाप परी की भांति आकाश से उतरती दिखाई देती है। प्राची की स्वर्ण आभा आशा का सन्देश लाती है कलियाँ खिलकर प्रकृति के हृदयोल्लास का परिचय देती हैं। हिमकरण उसके साथ रोते प्रतीत होते हैं। यमुना की तरंगों में भावुक हृदय को अतीत की आकुल तान सुनाई देती है। इस प्रकार कवि हृदय प्रकृति के सुरम्य राग से स्पन्दित हो उठता है तभी तो वर्डस्वर्थ की वाणी फूट पड़ी है—"कानन का क्षुद्रतम कुसुम भी मेरे प्राणों में अश्रु के अतीत भाव ला देता है। To me the meanest lower that blows can give thoughts that do often lie too deep for tears." मनुष्य के क्रीड़ा-कलाप की चित्रमयी रंगस्थली प्रकृति ही है। इसके बिना मानव जीवन का नाटक अधूरा रह जाता है। इस भावना से ही मानव का दृष्टिकोण बदला। इस सम्बन्ध में डॉ० किरण कुमारी गुप्त का विचार ठीक ही है—

'वह प्रकृति के विस्तृत प्राँगण में अपने लघुतम अस्तित्व पर विचार कर रहा था कि एकाएक प्रकृति ने अपना मनोमुग्धकारी रूप पलटा, अगाध जलनिधि ने अपनी फेनिल लहरों को उगलना आरम्भ किया और उसका गंभीर निनाद मानव के कर्ण कुहरों को विदीर्ण करने लगा······समस्त वातावरण में एक भय और आतंक छा गया।······जो कुछ भी सौम्य और सुन्दर था वह रौद्र बन गया। मानव भय से कम्पित और जड़ हो गया।······परन्तु प्रकृति का यह रूप भी स्थायी नहीं रहा, शान्त वातावरण का आभास होने पर मानव ने नेत्रोन्मीलन किया।······उसके हृदय में भय के भाव अन्तर्हित हो गये। उसने प्रकृति को पुन: चिर सहचरी के रूप में देखा। सिन्धु, जलद, गिरि, सूर्य, पवमान आदि में अन्तर्हित माँगलिक भावना का भी उसने अनुभव किया। ······इस प्रकार उसने प्रकृति के उपादानों के अद्भुत, रौद्र, शिव एवं सुन्दर रूपों का अवलोकन कर नवीन भावनाओं को ग्रहण किया।'

संस्कृत साहित्य में प्रकृति के सुरम्य चित्र सर्वत्र प्राप्त होते हैं। बाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, माघ आदि कवियों के काव्य प्रकृति चित्रण से भरे पूरे हैं। हिन्दी काव्य में प्रकृति को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। विशेष रूप से हिन्दी के कवियों में विद्यापति, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, बिहारी, देव, मतिराम, घनानन्द, पद्माकर, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० श्रीधर पाठक, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हरिऔध, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा और बच्चन आदि का नाम प्रकृति काव्य के लिए प्रसिद्ध है। प्रकृति की

सहायता से इन्होंने अपने काव्य को सरस बनाया है। हिन्दी काव्य में प्रकृति का प्रयोग कई प्रकार से किया जाता है—

१. आलम्बन रूप में, २. उद्दीपन के रूप में, ३. अलंकार प्रदर्शन के रूप में, ४. प्रतीकात्मक रूप में, ५. वातावरण निर्माण के रूप में, ६. पृष्ठ भूमि के रूप में ७. उपदेश के रूप में, ८. रहस्यात्मक सत्ता के रूप में, ९. बिम्ब प्रतिबिम्ब के रूप में, १०. मानवीकरण के रूप में।

हिन्दी की विभिन्न युगीय कविता पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक हिन्दी कविता प्राचीन कविता की अपेक्षा प्रकृति से अधिक प्रभावित है। यों कहीं-कहीं पर प्राचीन और नवीन में भाव साम्य भी दिखाई देता है।

हिन्दी के प्रारम्भिक काव्य में प्रकृति चित्रण मुख्य रूप से उद्दीपन और उपमान के रूप में ही हुआ है। वीरगाथा कालीन कवियों ने प्रकृति के उपमान सौंदर्य वर्णन के लिए ग्रहण किए और संयोग वियोग की अनुभूतियों को उद्दीपन के रूप में अंकित किया। भादों की वर्षा से नायिका की विरहाग्नि किस प्रकार प्रज्ज्वलित हो उठती है। देखिए—

'भादवउ बरसइ छइ मगहर गम्भीर। जल थल महीयल सहू भरया नीर।
जाणे सरवर उलटइ। एक अंधारी बीजखी बाया।
सूनी सेज विदेश पीया। दोई दुख नाल्ह कंथु सइंहणो जाई।"

प्रकृति ने उस बाला के दुःख को और अधिक बढ़ा ही दिया है। 'बीसलदेव रासो' के इस उदाहरण के अतिरिक्त 'पृथ्वीराज रासो' में भी प्रकृति उपमानों के रूप में ही दिखाई पड़ती है—

कुट्टिल केस सुदेस पहि परिचियत पिक्कसंद।
कमलगंध, वयसंध, हँस गति चलति मंद मंद॥
सेत वस्त्र सोहैं सरीर, नव स्वाति बुंद जस।
भ्रमर भवहिं भुल्लहि सुभाव, मकरन्द बास रस।

विद्यापति ने प्रकृति को नाना रूपों में अंकित करने का सफल प्रयास किया है। प्रकृति के अलंकरणों से नारी सौंदर्य को द्विगुणित करने की दक्षता इनको प्राप्त है। वे प्रकृति को विभिन्न अलंकारों के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिनमें उद्दीपन, अन्योक्ति और प्रतीक की बहुतायत है। यहाँ प्रत्येक का एक उदाहरण यथेष्ट होगा—

उद्दीपन के रूप में—

फुटल कुसुम नव कुंज कुटीर बन, कोकिल पंचम गावै रे।
मलयानिल हिम सिखर सिधारल, पिया निज देश न आवै रे।।

अन्योक्ति के रूप में—

कंटकमाझ कुसुम परगास, भमर विकल नहीं पावए पास।
भमरा मेल घुरए सब राम, तोहे बिनु मालति नहि बिसराम।।

प्रतीक रूप में—

कौन कुबुधि लुटु मदन भण्डार
× × ×
हाय हाय सम्भु भगन भए गेल
× × ×
सांझ क बेरि उगल नव ससधर
भरम विदित सवताहु !!

विद्यापति में मानवीकरण के उदाहरण मिल जाते हैं जिनमें प्रकृति के कोमल, सुन्दर, सरस उपमानों का अच्छा चयन हुआ है। देखिए—

माई ते सीत वसंत विवाद, कम्रोन विचारब जय-अवसाद।
दुहु दिसि मधय दिवाकर मेल, दुजबर कोकिल साखी देल।।
× × ×
वादी तइ प्रतिवादी भीत।
सिसिर बिन्दु हो अन्तर सीत।।

यहाँ वादी प्रतिवादी के रूप में वसंत और शीत को लाया गया है जिसमें शीत की हार और वसंत की जीत दिखाई गई है।

ज्ञानमार्गी शाखा के प्रसिद्ध कवि कबीर ने भी उद्दीपन अलंकार, रहस्य, उपदेश एवं प्रतीक के रूप में प्रकृति को अंकित किया है। उद्दीपन के रूप में वे लिखते हैं—

दौ लागी साइरजल्या, पंषी बैठे आइ।
दग्धी देह न पालबै, सतगुरु गया लगाय।।

अलंकार—

नैना नीझर लाइया, रहट बहै निस याम।
पपीहै ज्यूँ पिव पिव करौ, कबरू मिलहुगे राम।।

उपदेशात्मक वृत्ति का प्रकाशन देखिए—

बकरी पाती खाति है ताकी काढ़ी खाल ।
जे नर बकरी खात हैं तिनको कौन हवाल ।।

कबीर अपने विचारों की अभिव्यक्ति का प्रतिपादन भी प्रकृति द्वारा ही करते हैं—

जैसे जलहिं तरंग तरंगिनी ऐसे हम दिखलावहिंगे ।
कहैं कबीर सुख सागर, हँसहि हँस मिलावहिंगे ।।

इसी के साथ वे संसार की क्षणभंगुरता के विषय में भी कहते हैं—

माली आवत देखिकै कलियाँ करैं पुकार ।
फूले फूले चुन लिए कालिह हमारी बार ।।

रहस्यभावना—

चुवत अमीरस भरत ताल जहँ शब्द उठै असमानी हो ।
सरिता उमांड़ सिंध को, नहिं कछु जात बखानी हो ।।
चाँद सुरज-तारागण नहिं वँह, नहिं वह रैन बिहानी हो ।
बाजे बजैं सितार-बाँसुरी, रङ्कार मृदु बानी हो ।।

प्रतीक रूप में—

काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी ।

प्रकृति की लीला से बढ़कर कबीर को कोई रूपक नहीं मिलता, वे अपनी साधना जन्य अनुभूतियों का प्रकाशन भी इसी के सहारे करते हैं—

अन्तर कँवल प्रकासिया ब्रह्म बास तहाँ होय ।
मन भँवरा तहां लुबुधिया, जागैंगा जन कोइ ।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने शुष्क, निर्जीव विचारों को भी प्रकृति के सहारे जीवित वाणी प्रदान की हैं ।

कबीर के बाद जायसी में भी प्रकृति हमें उद्दीपन, उपमान, और प्रतीकों के रूप में दिखाई देती है । पावस के मादक प्रभाव को देखिए—

रितु पावस बरसै, पिउ पावा । सावन भादौं अधिक सोहावा ।।
कोकिल बैन, पाँत बग छूटी । धनि निसरी जेउँ बीर बहूटी ।।
चमक्कै बिज्जु, बरिस जग सोना । दादुर मोर सबद सुठि लोना ।
रंगराती, पिय संग निसि जागैं । गरजै चमकि चौंकि कंठ लागैं ।।

सीतल बुंद, ऊँच चौबारा। हरियर सब देखिअ संसारा।।

× × ×

भर भादौं दूभर अति भारी। कैसे भरौं रैनि अंधियारी।।
मंदिर सून प्रिय अनतै बसा। सेज नाग भै धै धै डसा।।

जायसी ने रहस्य-भावना से पूरित उद्दीपन रूप में प्रकृति का बहुत प्रयोग किया है। रानी पद्मिनी के सौंदर्य वर्णन में प्रकृति के क्रिया-कलापों को उपादान बनाया गया है—

फूल फूल फिरि पूछौं, जौ पहुँचौ ओहि केत।
तन निछावर कै मिलौं, ज्यौं मधुकर जिय देत।।

× × ×

हौं रे पथिक पखेरू, जेहि बन मोर निबाहु।
खेलि चला तेहि बन कँह, तुम अपने घर जाहु।।

यहां जायसी ने मधुकर और पक्षी का रूपक दिखाया गया है। जायसी विशेष दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

"लवंग सुपारी जायफर सब फर फरे अपूर।
आसपास घन ईमली औ घन तार खजूर।।"

भक्ति कालीन कवियों में सूर के काव्य में प्रकृति का आलम्बन और उद्दीपन रूप में पूरा प्रयोग हुआ है। उनके काव्य में प्रकृति की छवि सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। उपमानों में कवि की सौन्दर्य-दृष्टि की मौलिकता तथा प्रकृति के प्रति अनुराग की भावना दिखाई देती है। यद्यपि सूर ने स्वतन्त्र आलम्बन का चित्रण बहुत अधिक नहीं किया है फिर भी ऐसा लगता है कि कवि प्रकृति के रस और सौन्दर्य में डूबा है। उद्दीपन रूप में प्रकृति का चित्रण देखिए—

बिनु गोपाल बैरिन भइ कुंजैं।
जे वै लता लगति तनु सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं।
वृथा बहति जमुना, तट खग रौ, वृथा कमल फूलैं अलि गुंजैं।
पवन पानि घनसार सुमन दै दधिसुत, किरन भानु भई भुंजैं।

इसी प्रकार का एक उदाहरण और देखिए—

कुंज कंज प्रति कोकिल कूजति, अतिरस विमल बढ़ी।
मनु कुल बधू निलज भईं गृह गृह गावति अटनि चढ़ी।

प्रफुलित लता जहाँ जहँ देखत, तहाँ तहाँ अलि जात ।
मानहुँ बिट सबहिन अवलोकत, परस गनिका गात ।।

सूर के काव्य में प्रकृति अपने स्वाभाविक स्वरूप में दिखाई देती है । उसमें **गोपी**, ग्वाल, एवं कृष्ण की क्रीड़ा में एवं यमुना तट पर बिहार आदि का वर्णन किया गया है । वियोग में प्रकृति भी दुःखी होती है—

नाचत नहीं मोर ता छिन ते बोले न बरषा काल ।
मृग दूबरे तुम्हारे दरस बिन सुनत न बैनु रसाल ।।

यहाँ प्रकृति की ओट में ही सारी क्रीड़ायें की गई हैं ।

तुलसी ने भी प्रतीक, आलम्बन और उद्दीपन रूप में प्रकृति का शृंगार किया है । चातक और मेघ का प्रेम सशक्त प्रतीक ही है । प्रकृति प्रयोग के चित्र 'गीतावली' और मानस' में यत्र तत्र मिल जाते हैं । गीतावली में उन्होंने लिखा है—

सहित स्याम जलद मृदु घोरत धातु रंगमगे संगनि ।
× × ×
जल जुत विमल सिलनि झलकत नभ, बन प्रतिबिंब तरंगनि ।

अधिकतर 'मानस' में प्रकृति का प्रयोग उपदेश के रूप में ही दिखाई देता है—

उदित अगस्त पंथ जल सोखा ।
जिमि लोभहिं सोषइ संतोषा ।
सरिता सर निर्मल जल सोहा ।
संत हृदय जस गत मद मोहा ।।

अथवा—

बरसहिं जलद भूमि नियराये,
यथा नवहिं बुध विद्या पाये ।
बुन्द अघात सहहिं गिरि कैसे,
खल के वचन संत सह जैसे ।।

रीतिकाल के काव्य में षटऋतु वर्णन और बारहमासा की भरमार के कारण प्रकृति को अधिक प्रश्रय मिलना स्वाभाविक है । इससे प्रकृति वर्णन का महत्व और भी अधिक बढ़ गया । नायक नायिकाओं की विविध प्रेम लीलाओं को प्रकृति ने आश्रय दिया है और कवियों ने पाठकों को प्रकृति की झाँकियों

से विभोर किया है। प्रकृति के सभी रूप सजाकर प्रस्तुत किए गए। प्रकृति को कविगण मानव-मन से अलग न देख सके। रीतिकालीन अनेक कवियों— बिहारी, देव, सेनापति, घनानन्द आदि ने प्रकृति के अनेक चित्रों का अंकन किया है। कहीं-कहीं पर अलंकार निरूपण तथा उक्ति वैचित्र्य के लिए प्रकृति का वर्णन किया गया है। निम्नलिखित उदाहरण में बिहारी ने प्रकृति द्वारा कैसा तथ्य अंकित किया है—

नहिं पावस ऋतु यह, तजि तरुवर चित भूल।
अपतु भए बिनु पाइ हैं क्यौं नव दल, फल फूल॥

अर्थात् बसन्त में पतझड़ होने के बाद वृक्षों में हरियाली आती है किन्तु वर्षाकाल में स्वयं ही वृक्षों की हरीतिमा बढ़ जाती है, इसी तथ्य को बिहारी ने उपर्युक्त दोहे में अंकिल किया है। बिहारी का मन्द पवन का वर्णन भी इसी प्रकार का है—

रनित भृङ्ग घटावली झरत दान मद नीर।
मन्द मन्द आवत चल्यौ, कुंजरू कुंज समीर॥
संक्यो साँकरे कुंज मग, करत झाँझि झुकरातु।
मंद मंद मारुत तुरंगु, खूँदतु आवतु जातु॥

तथा—

लपटी पुहुप पराग-पट सनी स्वेद मकरन्द।
आवति नारि नवोढ़ लौं, सुखद वायुगति मंद॥
सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥

केशव में प्रकृति के प्रति कोई अनुराग नहीं दिखाई देता है। वे प्रकृति चित्रण करते समय भी अलंकारों में उलझे दिखाई देते हैं। वे यह भी भूल जाते हैं कि कौनसा पुष्प किस ऋतु विशेष में होता है। कहीं कहीं वस्तुओं के नाम गिनाने में ही प्रकृति वर्णन की सार्थकता समझी गई है यथा—

तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर।
एला लता लवंग संग पुंगी फल सोहैं॥

फिर भी रामचन्द्रिका में एक आध स्थल ऐसे मिल ही जाते हैं—

फल फूलन पूरे तरुवर रूरे, कोकिल कुल कलख बोलैं।
अति मत्त मयूरी, पिय रस पूरी, बन बन प्रति नाचन डोलैं।

सेनापति ने प्रकृति का आलम्बन रूप में वर्णन करके अपने सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। क्वाँर के बादलों का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

रजत से राजत हैं पूरब को भाजत हैं, गग-गग गाजत गगन घन क्वाँर के।
इसी भाँति शारद ऋतु में—

> "पाउस निकास ताते पायौ अवकास,
> भयौ जोन्ह कौ प्रकास सोभा अति रमनीय कौं।
> विमल अकास होत वारिज विकास,
> सेनापति फूले कास हित हंसन के हीय कौं।"

नापति के बारहमासा के कवित्त अधिकाँश उद्दीपन विभाव की दृष्टि से लिखे गए हैं। ऋतु रचना उनके प्रकृति के अनुराग की सूचक है—

> 'दूर जुदराई, सेनापति सुखदाई देखौ
> आई ऋतु पावस न पाई प्रेम पतियाँ
> धरि जलधर की सुनत धुनि धर की हैं
> दर की सुहागिन की छोह भरी छतियाँ।"

सेनापति के इन पदों की नवीनता अन्यत्र दुर्लभ है। रीतिकाल के अनेक कवियों ने प्रकृति के मदमाते यौवन को भी देखा है और उससे प्रेरणा ली है। सेनापति के एक अनूठे छंद में प्रकृति को मानवमन पर प्रभाव डालते दिखाया गया है, यथा—

> "लाल लाल टेसू फूलि रहे हैं विसाल संग,
> स्याम रंग भेटि मानों मसि में मिलाए हैं।
> आधे अन सुलगि सुलगि रहे आधे मानौं,
> बिरही-दहन काम क्वैला परचाए हैं।"

चिन्तामणि का प्रकृति चित्राँकन प्रकृति के विविध अंगों से हटकर केवल संश्लिष्ट रूप की ओर है जो बड़ी ही स्वाभाविक शैली में अंकित किया गया है, यथा—

> ओढ़े नील सारी घन घटा कारी चिन्तामनि,
> कंचुकी किनारी चारु चपला सुहाई है।
> इन्द्रबधू जुगुनू जवाहिर की जगाजोति,
> बग मुकतान माल कैसी छवि छाई है॥

लाल पीत सेत वर बादर बसन तन,
बोलत सुभंगी धुनि नुपुर बजाई है।
देखिबे को मोहन नवल नट नागर को,
बरषा नबेली अलबेली बनि आई है ॥

रीतिकाल के द्विजदेव ने भी अन्य कवियों की भाँति आलम्बन रूप में प्रकृति चित्रण किया है। द्विजदेव का छन्द देखिए—

चहकि चकोर उठे सोर करि भौंर उठे,
बोलि ठौर ठौर उठे कोकिल सुहावने।
खिलि उठीं एकै बार कलिका अपार,
हलि हलि उठे मारुत सुगन्ध सरसावने ॥
पलक न लागी अनुरागी इन नैनन मैं,
पलटि गए धौं कबै तरु मन-भावने।
उमंगि अनन्द असुवान लौं चहूँधा लागे,
फूलि फूलि सुमन मरंद बरसावने ॥

पद्माकर के काव्य में भी प्रकृति चित्रण के बड़े सुन्दर, सजीव चित्र भरे पड़े हैं। सावन की छटा क्या ही लुभावनी बन पड़ी है, देखिए—

भौंरन को गुंजन विहार बन कुंजन में,
मंजुल मलारन को गावनो लगत है।
कहै पद्माकर गुमान हूँ ते मान हूँ ते,
प्रान हूँ ते प्यारो मन भावनो लगत है।
मोरन की सोर घन घोर चहुँ ओर न,
हिंडोरन वृन्द छबि छावनो लगत है।
नेह सरसावन में मेह बरसावन में,
सावन में झूलिवो सुहावनो लगत है ॥

इसी प्रकार कविवर 'ग्वाल' ने भी प्रकृति का सुन्दर निरूपण कर सरसों के खेत तक में सोने के पलँग की कल्पना कर ली है। देखिए—

सरसों के खेत की बिछायत बनी,
तामें खरी चाँदनी बसन्ती रति कंत की
सोने के पलंग पर वसन वसन्ती साज सोन,
जूही माल हालें हिय हुलसन्त की।

'ग्वाल' के अनुसार संयोगावस्था में प्रकृति का कार्य संयोग सुख में वृद्धि करना था, जबकि वियोगावस्था में उसका कार्य विरहोद्दीपन करना था। ग्वाल का एक छंद इसका अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है—

"ऊधौ ! ये सूधौ सो संदेसौ कहि दीजो जाय,
स्याम सौं सिताबी तुम बिन सरसंत है।
कोप पुरहूत कैं बचाई बारि धारन तें,
तिनपै कलंकी चंद विष बरसंत है।
'ग्वाल कवि' सीतल समीर जे सुखद ही ते,
बेधत निसंक तीर पीर परसंत हैं।
जेइ बिपिनागिन ते बरत बचाई तिन्हैं,
पारि बिरहागिन में बारत बसन्त हैं।।

गोकुल' कवि ने भ्रमरावली का वर्णन अलंकारमयी शैली में कितना सुन्दर किया है—

घन-बन-बीथिन तें घर-घर घेरि रहे,
लाल-पीरे लागत न जानि परैं कारे से।
गावत समाज करे आवत नवाज राज,
करी ये निलज्ज छाके छाक मतवारे से।।
'गोकुल' बसंत में वियोगिन के जारिबे को,
होरी सी हिए में हरपित निरधारे से।।
भीजे मकरन्द सों पराग लपटाने देखो,
मधुकर डोलत फिरत फगुहारे से।।

आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रकृति की छटा का चित्रण सूक्ष्मता और विशदता के साथ किया गया है। इसके कुछ मूल कारण रहे हैं। १—विदेशियों से मुक्त होने के लिये अपने देश के सौन्दर्य का चित्रांकन करना। २—मानव काव्य की अत्यधिक रचना हो चुकने के कारण कवियों का इधर आकृष्ट होना आवश्यक था। ३—विदेशी भाषाओं के कवियों की रचनाओं के प्रभाव के कारण से। ४—छायावादी काव्य-धारा के कवि रूढ़ियों के विरोधी थे अतः उन्होंने छायावादी काव्य को प्रकृति के वैभव से अतिरंजित किया।

इसके साथ ही हिन्दी काव्य में प्रकृति की सारी विधाएँ दिखलाई देने लगीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', पं० श्रीधरपाठक

पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', डॉ० मैथिली शरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला,' महादेवी वर्मा, डॉ० रामकुमार वर्मा तथा अन्य कवियों का प्रकृति प्रेम सराहनीय है।

भारतेन्दु जी का यमुना-वर्णन अलंकारमयी शैली में बड़ा ही सराहनीय है—

'तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुँ सुहाए॥'

'प्रेमघन' जी लिखते हैं—

कँटवासी बसपारिन को रकबा जहँ मरकत।
बीच बीच कंटकित वृक्ष जाके बढ़ि लरकत॥
छाई जिनपै कुटिल कटेली बेलि अनेकन।
गोलहु गोली भेदि न जाहि जानि बाहर सन॥

हिमालय की प्राकृतिक दृश्यावली की सुन्दरता को देखकर पं० श्रीधर पाठक जी लिखते हैं। छंद में लिखा वर्णन शब्द-चयन की पटुता से परिपूर्ण है—

रूरे-रूरे गाम अधिक अन्तर सों सोहत
रूपवती, पर्वती, सती जुवती मन मोहत
अगनित पर्वत-खण्ड चहूँ दिसि देत दिखाई
सिर परसत आकाश चरन पाताल छुआई
सोहत सुन्दर खेत पाँति तर ऊपर छाई
मानहु विधि पर हरित स्वर्ग-सोपान बिछाई
गहरे-गहरे गर्त खड्ड दीरघ गहराई
शब्द करत ही घोर प्रतिध्वनि देत सुनाई
तहाँ निपट निश्शंक, वन्य-पशु-सुख सोंविचरत
करति केलि कल्लोल, मुदित आनंदित विहरत
कहुँ ईंधन कौ ढेर सिद्ध आवास जनावत
विविध बिलच्छन हस्य सृष्टि सुखमा सुखमंडल
नन्दन बन अनुरूप भूमि अभिनय रंगस्थल
प्रकृति परम चातुर्य अनूपम अचरज आलय
श्रीधर दृग छकि रहत, अटल छवि निरख हिमालय।

काश्मीर प्रकृति देवी का शृंगार गृह है जहाँ प्रकृति अपना रूप संवारती है। कवि ने उसका सच्चा रूप अपनी काव्य पंक्तियों में अंकित किया है—

> प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति।
> पल-पल पलटति भेष छनिक छवि छिन-छिन धारति ॥
>
> बिहरत विविध बिलास भरी जोबन के मद सनि।
> ललकति किलकति पुलकति निरखति थिरकति बनठनि ॥

पं० रामनरेश त्रिपाठी के प्रकृति-वर्णन में रहस्य, जिज्ञासा और दर्शनिकता के भी दर्शन हो जाते हैं—

> है वह कौन रूप का आकर जिसके मुख की कांति मनोहर ?
> देखा करती है सागर की व्यग्र तरंगें उचक उचक कर।
> घन में किस प्रियतम से चपला करती रहती है विनोद हँस-हँसकर ?
> किसके लिए उषा उठती है प्रतिदिन कर शृंगार मनोहर ?

प्रकृति में मानव भावनाओं का आरोपण करके प्रकृति का वास्तवित स्वरूप ही दिखाया जाता है परन्तु मात्र अन्तर यह होता है कि जहां यथा तथ्य वर्णनों में प्रकृति का मानव मन से अधिक प्रयोजन नहीं रहता वहाँ प्रकृति मानव मन का अनुकरण करती हुई सी दिखाई देती है। अयोध्या सिंह उपाध्याय जी का एक प्रकृति वर्णन देखिए—

> देता था सुप्रवाह उत्स उर में,
> ऐसी उठी कल्पना।
> धारा है यह मेरू से प्रसवती,
> स्वर्गीय आनन्द की ॥
> या है भूधर सानुराग द्रवता,
> अंकस्थितों के लिए।
> आँसू है वह ढालता विरह में,
> किंवा ब्रजाधीश के ॥"

कृष्ण के वियोग में गोवर्धन पर्वत निर्भर के रूप में उसी प्रकार अश्रु प्रवाह करता दिखाई देता है जैसे ब्रज के निवासीगण अश्रु प्रवाह कर रहे हो।

मानवता को प्रदर्शित करता हुआ भी गोवर्धन पर्वत हरिऔध जी द्वारा दिखाया गया है—

सद्भावाश्रयता अचिन्त्य दृढ़ता निर्भीकता उच्चता।
नाना कौशल मूलता अटलता न्यारी क्षमाशीलता ।।
होता था यह ज्ञात देख उसकी शास्ता समा भंगिमा।
मानों शासन है गिरीन्द्र करता निम्नस्थ भूभाग का।।

कहीं कहीं पर हरिऔध जी की कल्पना विश्व से ऊपर उठकर क्षितिज के उस पार तक पहुँच जाती है। वस्तु स्वयं साकार रूप होकर हमारे नेत्रों के समक्ष आ जाती है —

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला
तरु शिखा पर अब भी राजती थी
कुमुदिनी कुल बल्लभ की प्रभा।"

मैथिलीशरण गुप्त को प्रकृति वर्णन में अपूर्व सफलता मिली है। इनका प्रसिद्ध 'पंचवटी' काव्य अनुपम प्राकृतिक दृश्यों से भरा पड़ा है। पंचवटी का आरम्भिक अंश ही कितना आकर्षक है उसका दिग्दर्शन कवि ने कितना सुन्दर किया है—

'चारु चन्द्र' की-चंचल किरणें
खेल रही हैं जल थल में,

सीता वर्णन में भी इसी भाँति—

कुछ कुछ अरुण सुनहली कुछ कुछ
प्राची की अब भूषा थी
पंचवटी की कुटी खोलकर
खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी।।'

सीता के साथ ऊषा का रूप कितना साकार बन पड़ा है। मानवीय इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रकृति का विविध प्रकार से उपयोग किया गया है—

उस काल पश्चिम की ओर रवि की रह गई बस लालिमा।
होने लगी कुछ कुछ प्रगट सी यामिनी की कालिमा।।
सब कोकगण शोकित हुए, विरहाग्नि से डरते हुए।
जाने लगे निज निज गृहों को विहंग रव करते हुए।।

एक अन्य छन्द में अर्जुन की मानसिक चिन्ता के दिग्दर्शन में प्रकृति ने पृष्ठभूमि का काम किया है—

यों अस्त होना देख रवि का पार्थ मानों हत हुए।
मुँदते कमल के साथ वे भी विमुद गौरवगत हुए ॥

प्रकृति का स्वतन्त्र रूप में वर्णन करते हुए प्रसाद जी ने लिखा है—

उषा सुनहले तीर बरसती, जय लक्ष्मी सी उदित हुई।
उधर पराजित काल रात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई ॥

भाव की अभिव्यंजना करने वाला प्रकृति को कोसता नहीं किन्तु उसे उसका एक-एक कण अपने हृदय की छाया के रूप में जलता हुसा भासित होता है और वह कह उठता है—

ये सब स्फुलिंग हैं मेरी, इस ज्वालामयी जलन के,
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल मेरे उस महामिलन के।
बुलबुले सिन्धु के फूटे नक्षत्र मालिका टूटी,
नभ मुक्त कुंतला धरणी, दिखलाई देती लूटी ॥

मानवीकरण का रूप देते हुए प्रसाद जी ने लिखा है—

पगली हा सँभाल ले तेरा, छूट पड़ा कैसे अंचल।
देख बिखरती मणिराजी, अरी, उठा, ओ बेसुध चंचल ॥

× × ×

सिंधु सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी सी।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किए सी ऐंठी सी ॥

आगे प्रसाद जी ने मानव व प्रकृति दोनों के सुख या प्रसन्नता की भावना व्यक्त करने वाली उक्तियाँ रखी हैं कि किस प्रकार प्रकृति सुख का प्रभाव मानव पर पड़ता है। कामायनी में उन्होंने लिखा है—

वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा हँसने फिर से।
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में शरद् विकास नए सिर से ॥

प्रभात की हिमालय प्रदेशीय उत्फुल्ल शोभा मनु को भी आशा से तरलित व पुलकित कर देती है—

जीवन जीवन की पुकार है खेल रहा है शीतल दाह;
किसके चरणों में नत होता नव प्रभात का शुभ उत्साह;

यह संकेत कर रही सत्ता किसकी सरल विकासमयी,
जीवन की लालसा आज क्यों इतनी प्रखर विलासमयी।

कामायनी में प्रसाद ने श्रद्धा के वर्णन को प्रकृति का अलंकारमय रूप प्रदान किया है—

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ वन बीच गुलाबी रंग॥

कहीं कहीं प्रकृति में रहस्यमयता का भी संकेत दिखाई देता है—

महानील इस परम व्योम में, अन्तरिक्ष में ज्योतिमान।
गृह नक्षत्र और विद्युत्कण, किसका करते थे संधान?

वे सम्पूर्ण प्राकृतिक सौन्दर्य को ईश्वरीय सत्ता का परिचायक मानते हैं। सागर के गान में उसी की झांकी उन्हें दिखाई देती है। प्रकृति उनके लिए जड़ नहीं है, वरन् चेतना का शरीर है। तभी कवि कहता है—

हे विराट्। हे विश्व देव! तुम
कुछ हो ऐसा होता भाव—
मंद गंभीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान।

ऊषा को वे पनघटपर पानी भरने वाली नारी के रूप में देखते हैं—

बीती विभावरी जाग री······
अम्बर पनघट में डुबा रही, तारा घट ऊषा नागरी।
खग कुल कुल कुल सा बोल रहा, किसलय का अंचल डोल रहा।
लो यह लतिका भी भर लाई नव मुकुल नवल रस गागरी
बीती विभावरी······

प्रसाद का प्रकृति निरीक्षण बड़ा पैना हैं। उन्होंने अप्रस्तुत रूप में भी प्रकृति को भव्य रूप प्रदान किया है। इसमें इसका सादृश्य और साधर्म्य दोनों का वर्णन अत्यन्त रोचक है, जिसमें प्राचीन और नवीन, पौर्वात्य और पाश्चात्य विधियों का समन्वय भी दिखाई देता है। उनका सन्ध्या वर्णन कितना सजीव है, देखिए—

'सन्ध्या घन माला की सुन्दर
ओढ़े रंग बिरंगी छींट
गगन चुम्बी शैल श्रेणियाँ
पहने हुए तुषार किरीट?'

प्रकृति के सौम्य रूप के साथ विकराल रूप के चित्रणों में भी उन्होंने कौशल प्राप्त किया है। प्रसाद के काव्य में ऐसे चित्रण बहुत मिलते हैं—

उधर गरजती सिंधु लहरियाँ, कुटिल काल के जालों सी
चली आ रही फेन उगलती फन फैलाये व्यालों सी
धँसती धरा, धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के विश्वास,
और संकुचित क्रमशः उसके, अवयव का होता ह्रास!

चैतन्य प्रकृति मानव के अत्यधिक निकट दिखाई देती है। वह विश्व जननी है जो सभी का संहार और पालन करती है। प्रकृति को कवि इतना अधिक प्रेम करता है कि वह संहार नहीं चाहता। प्रकृति का यह प्रेम पंत जी में देखिए—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल जाल में कैसे उलका दूँ लोचन—
भूल अभी से इस जग को।

पंत ने प्रकृति प्रेम की हद कर दी कि प्रकृति के वैभव के समक्ष युवती बालाओं के मन-मोहक सौन्दर्य तक को ठुकरा दिया। प्रकृति को सुखी देखकर पंत जी मानव के सुख की कल्पना करते हुए कहते हैं—

खिलतीं मधु की नव कलियाँ, खिल रे मेरे मन।
नव सुषमा की पंखड़ियाँ फैला, फैला परिमल घन॥
नव छवि, नव रंग नव मधु से मुकुलित पुलकित हो जीवन।
सालस सुख की सौरभ से साँसों का मलय समीरण।

प्रकृति में आध्यात्मिक भावनाओं का निरूपण कर प्रकृति के प्रत्येक कार्य में वे एक रहस्य के दर्शन करते हैं। कवि उसे समझने में असमर्थ है। अपने कौतुहल में पंत जी प्रकृति सुन्दरी से प्रश्न करते हैं—

सघन मेघों का भीमाकाश, गरजता है जब तमसाकार;
दीर्घ भरता समीर उच्छ्वास, प्रखर करती जब पावस धार,
न जाने तपक तड़ित में मौन, मुझे इंगित करता तब कौन?

प्रकृति उन्हें उपदेश भी देती है—

हँसमुख प्रसून सिखलाते पलभर है जो हँस पाओ,
अपने उर की सौरभ से जग का आँगन भर जाओ।

उठ उठ लहरें कहतीं यह हम कूल विलोक न पायें,
पर इस उमंग में बह-बह नित आगे बढ़ती जायें ।।

कुंज में बिखरी हुई किरण को देखकर पंत जी कहते हैं—

अरे कौन तुम दमयन्ती सी, हो तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें क्या छोड़ गया, अयि नल सा निष्ठुर कोई ।

पवन प्रेरित जल प्रसार पर दीपक का प्रकाश फैलकर बड़ा दिखाई पड़ने लगता है, इसका और रमणीय निरीक्षण पंत जी के इस रूपक में हुआ है—

खैंच एचीले भ्रू सुरचाप—
शैल की सुधि यों बारंबार—
हिला हरियाली का सुदुकूल,
झुला झरनों का झलमल हार,
जलद पट से दिखला मुखचन्द
पलक पल पल चपला के मार,
भग्न उर पर भूधर सा हाय ।
सुमुखि धर देती है साकार ।

पंत जी प्रकृति के सच्चे उपासक हैं । इनकी रचनाओं में पर्वत, झील और सन्ध्या के बड़े सुन्दर वर्णन उपस्थित हुए हैं । एक पार्वत्य प्रदेश का प्रकृति चित्र दृष्टव्य है —

पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश, पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश,
मेखलाकार पर्वत अपार,
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़ अवलोक रहा है बार बार,
नीचे जल में निज महाकार
जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण सा फैला है विशाल ।

सुन्दरी का रूपक बाँधकर निराला जी ने संध्या का मानवीकरण किया है वह आकाश से परी की भाँति उतरती सी प्रतीत होती है—

दिवावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या सुन्दरी परी सी,
धीरे धीरे धीरे !

निराला ने एक अभिव्यक्ति में दिखाया है कि विरही दुखी होता है, रोता है, जलता है, वह प्रकृति को आनन्द रूप में नहीं देखना चाहता, वरन् चाहता है कि प्रकृति भी दुखी हो उठे, रोवे, जले। वह प्रकृति को उपालंभ देता है—

सरि धीरे बहरी, व्याकुल उर, दूर मधुर, तू निष्ठुर रह री।
भरमत री राग प्रबल, गत हासोज्जवल निर्मल मुख कलकल छवि की
छल चपला चल लहरी !!

निराला जी ने 'जुही की कली' को कहीं शिथिल पत्रांक में सोती हुई नायिका के रूप में देखा है और मलयानिल उससे अठखेलियाँ करता है—

विजन वन-वल्लरी पर सोती थी सुहाग भरी
स्नेह स्वप्न मग्न अमल कोमल तन तरुनी जुही की कली
दृग बन्द किए शिथिल पत्राँक में !

महादेवी वर्मा मानव को प्रकृति से चक्रवाल की तरह घिरा हुआ मानती हैं। साथ ही प्रकृति के विविध कोमल, परुष, सुन्दर, विरूप रहस्यमय रूपों का परिष्कार करने वाला भी कहती हैं। प्रकृति में ही उनकी विरह वेदना, हृदय की करुणा, नैनों का नीर और मन की आकुलता है। प्रकृति ही उनके संवेदनशील हृदय को सारे संसार के एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देती है, तभी तो महादेवी जी प्रकृति के उपादानों के पुलक और आकाश की मुस्कराहट में प्रिय के आगमन का संकेत पाती हैं—

मुस्काता संकेत भरा नभ
अलि, क्या प्रिय आने वाले हैं।
विद्युत के उस स्वर्णपाश में बँध हँस देता रोता जलधर,
अपने मृदु मानस की ज्वाला गीतों में नहलाता सागर;
दिन निशि को, देती निशि दिन को
कनक रजत के मधु प्याले हैं
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं।

यहाँ आकाश मानव के समान मुस्कराते हुए कल्पित किया गया है, वस्तुतः आकाश मुस्कराता नहीं, केवल तारे चमकते हैं, किन्तु लाक्षणिकता के बल पर मानवीकरण द्वारा महादेवी जी ने इस चित्र में सजीवता उत्पन्न कर दी है। 'यामा' में उन्होंने प्रकृति की एक उपमा में कहा है—

चाँदनी धुला अन्जन सा, विद्युत मुसकान बिछाता,
सुरभित समीर पंखों से उड़ जो नभ में घिर आता।
वह वारिद तुम आना बन ।।

बसन्तरजनी को वधू बनाकर उसको प्राकृतिक अलंकरणों से सजाया सवाँरा गया है देखिए—

"तारकमय नव वेणी बन्धन,
शशि फूल कर शशि का नूतन
रश्मि वलय सितघन अवगुण्ठन
मुक्ता हल अविराम बिछा दे
चितवन से अपनी।
पुलकती आ बसन्त रजनी!!"

डॉ० रामकुमार वर्मा की प्रकृति भी कितनी निर्मम है, वे लिखते हैं—

मेरे दुख में प्रकृति न देती क्षणभर तेरा साथ,
उठा शून्य में रह जाता है मेरा भिक्षुक हाथ।
—रूपराशि—डा० रामकुमार वर्मा

इतना ही नहीं वह आगे चलकर मानव का उपहास भी करती है—

मुझे देख कोयल हँसती है हँसती हैं बरसातें।
मेरी हँसी उड़ाया करती रजत चाँदनी रातें।।

अराकान के वर्णन में शुजा के व्यथित मस्तिष्क की झलक मिलती है—

ये शिलाखण्ड काले कठोर वर्षा के मेघों से कुरूप,
दानवता से बैठे, खड़े या कि अपनी भीषणता में अनूप।
ये शिलाखण्ड मानों अनेक पापों के फैले हैं समूह,
या निरसता ने चिर प्रवास के लिए रचा है एक व्यूह।।"

आधुनिक कवियों में प्रकृति चित्रण का आधार अधिकतर मनोवैज्ञानिक है। इन कवियों ने कल्पना रंजित प्रकृति सुन्दरी को मानवीय भावनाओं का परिधान पहनाया जिसके कारण मानव उसकी उपेक्षा न कर उसे अपने समवयस्क सा समझने लगा। यद्यपि प्रगतिवाद के इस युग में प्रकृति का स्थान गौण होता जा रहा है।

इस प्रकार अधिक उदाहरण न देकर हम इतना ही पर्याप्त समझेंगे कि हिन्दी काव्य में प्रकृति और मानव का दर्शन सर्वत्र उपलब्ध हैं। प्रकृति हिन्दी कवियों के काव्य का साधन है, साध्य है। कवियों ने हरे भरे मैदानों से लेकर

पर्वत और मरुभूमि तक का सौंदर्य अंकित किया है। पंत जी तो हिमालय के साथ एकाकार से हो गए हैं। प्रसाद ने हिमालय का मनोहर चित्र अंकित किया है। हिन्दी के इन कवियों के अतिरिक्त आगे आने वाली नवीन पीढ़ी के कवियों ने भी प्रकृति को अपने काव्य का माध्यम बनाया है।

गुरुभक्तसिंह आदि की पीढ़ी के नवीन कवियों ने सरसों, कनेर, पाटल, अलसी के फूलों को सस्नेह देखा है। प्रसाद को यदि शेफाली (कामायनी) प्रिय है तो बच्चन को गुलहज़ारा (मिलनयामिनी)। इसी प्रकार पक्षियों में भी पपीहा, मोर, कोयल, तोता, खंजन, चकोर, बगुले, टिटहरी, बया आदि तक हृदय की रागात्मकता का विस्तार किया गया है।

हिन्दी काव्य में प्रकृति के ये ही मुख्य कवि हुए हैं जिन्होंने काव्य को मुख्य रूप प्रदान किए हैं जिनसे सहस्रों रंगतों की अभिव्यक्तियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं। कवि प्रकृति के द्वारा मानव सभ्यता के मार्मिक स्वरूपों का उद्घाटन करते हैं। आधुनिक मनोवृत्ति वस्तु व्यापार का चित्रण करके उसे वहीं छोड़ देने की ओर विशेष है क्योंकि इससे पाठक स्वयं काव्य की ध्वनि को अपनी कल्पना के बल से ग्रहण करता है। संक्षेप में यही हिन्दी काव्य में प्रकृति का लेखा जोखा है।

# प्रसाद के नाटय गीत

नाटकीय रचना में गीत का एक महत्वपूर्ण स्थान है। गीत के ही द्वारा कवि अपने काव्य की भावनाओं को व्यक्त कर सकता है। हृदय में जिस प्रकार की विचारधाराओं का उतार-चढ़ाव होता है, ठीक उसी प्रकार गीत की तन्मयता में, उसकी लय में एवं उसके स्वर में उतार-चढ़ाव होता है। मानव की भावना परिधि में दो प्रकार की भावनाएँ निहित हैं—एक सुख की, दूसरी दुःख की। जहाँ एक ओर मानव सुख एवं आनन्द के सागर में अपनी जीवन तरी को छोड़ता है वहीं दूसरी ओर उसकी जीवन तरी जटिल एवं विकट समस्याओं में अपनी साँस गिनती रहती है। संसार के झंझट, विश्व-वेदना एवं भाग्य विडम्बना से मुक्ति पाने की एकमात्र औषधि गीत ही हैं। गीत एक अनुभूतिनिष्ठ आत्मसंवेदनात्मक व सूक्ष्म रचना है। उसमें विषय या तो निमित्तमात्र होता है या होता ही नहीं। गीतों में जितने प्रकार होते हैं उनमें से कुछ प्रकार के गीत अपनी गेय शक्ति के कारण गीत भले ही कहलायें किन्तु विषय प्रधानता, वर्णनात्मकता एवं व्याख्या आदि के कारण उनमें अवश्य ही ऐसे तत्वों का अभाव होता है जो गीत में समाविष्ट होकर उसके मार्मिक प्रभाव को हृदय के गूढ़तम स्तरों तक पहुँचाने में समर्थ होते हैं। गीत की तन्मयता में कठोरता पर कल्पना का पर्दा पड़ जाता है और दुःख इस रागधारा के प्रवाह में मधुमय हो जाता है। सुख को सुखातिरेक और दुःख को आनंद में परिवर्तित करने वाला अलौकिक आह्लाद-गीतों में ही मिलता है।

गीत की उत्पत्ति का एकमात्र आधार है जीवन की तन्मयतामयी अनुभूतियाँ। उसकी प्रगति में जितना संतोष सुख होता है उससे भी अधिक उसके अभाव में असन्तोष और दुःख। दुःख ही में गीत की उत्पत्ति होती है। अएवता, अभाव और वेदना एक ही भाव की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। मनुष्य की महत्ता उसकी चेतना है और जब दुःख से, वेदना से, अभाव से,

चेतना उद्वेलित हो उठती है तभी गीत की सृष्टि होती है । गीत का प्रमुख लक्षण उसकी संकेतात्मकता, प्रतीकत्व, ध्वन्यात्मकता, अनुभूति की सूक्ष्मता व कोमलता, लाघव तथा अन्विति आदि हैं । गीत एक उच्चकोटि की साहित्यिक सृष्टि है जिसमें कवि की संगीतमयी वाणी उसकी आँतरिक भाव विभूति एवं उसका अर्जित कला-कौशल एक साथ ही दिखाई देता है । कवि की सारी मनोग्रंथियाँ गीत में आकर स्वतः खुल जाती हैं ।

जिस प्रकार मानव जीवन का सम्बन्ध हर्ष और विषाद से है उसी प्रकार गीत का शरीर भी सुख दुःख के ताने बाने से वुना गया है । युग की इन्हीं नैराश्यमयी भावनाओं से प्रभावित होकर एवं कष्टमय वातावरण को देख कर हिन्दी कवियों के हृदय में भी करुणा और वेदना की मंदाकिनी बही और राष्ट्रीयता का भी आगमन हुआ जिसमें नाटककार प्रसाद जी अग्रदूत बनकर आए ।

भारत के प्राचीन नाटकों में भी गीत अवश्य रहे, परन्तु आधुनिक नाटकों में गीतों की अधिकता रहती है । अधिकाँशतः नाटककारों ने इन गीतों को मनोरंजन के सर्वश्रेष्ठ साधन के रूप में उपस्थित किया है । नाटक मानवीय चेष्टाओं का क्रियात्मक प्रदर्शन है । अभिनय में नाटकीय पात्रों की वाह्य स्थूल क्रियाओं की अभिव्यक्ति तो होती है उनके मन की सूक्ष्म स्थितियों का व्यक्तीकरण भी होता है और मानव जीवन में ऐसी स्थिति आती है जब मनुष्य भावनाओं में इस प्रकार तन्मय रहता है । जब वह हर्ष अथवा विषाद से इस प्रकार पीड़ित रहता है कि उसकी सारी स्थूल प्रक्रियाएँ शिथिल पड़ जाती हैं और उसकी बौद्धिक विश्लेश्ण की शक्ति मूक हो जाती है । गीत ही, जो भाव को आकार देने की क्षमता रखता है, उस अवस्था का सजीव चित्रण, प्राणमय प्रकाशन कर सकता है । चित्र और काव्य की इसी सन्धि का नाम नाटक है । अतः गीतों को नाटक में न रखना उसके एक आवश्यक तत्व से वंचित करना है क्योंकि नाट्यगीत, नृत्य, काव्य और चित्र की संयुक्त कला है । नाटक में गीतों की यही उपयोगिता है ।

प्रसाद जी के नाटकों में 'नाट्यगीत, उनके पात्रों द्वारा गाये जाने वाले गाने के रूप में संग्रहीत हैं । ये सभी गीत शुद्ध साहित्यिक हैं । राज्यश्री, विशाख अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य, एक घूंट, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी आदि नाटकों में प्रसाद के नाटय गीतों की

सामाग्री उपलब्ध है। ये गीत प्राय: सभी प्रकार के हैं—शृंगारिक, दार्शनिक, भक्ति परक, राष्ट्रीय व प्रकृति सौन्दर्यमूलक, किन्तु प्रधानता शृंगारिक गीतों की है। प्रसाद जी ने अपने नाटकों में गीतों को स्थान दिया है। वह किसी विशिष्ट उद्देश्य या धारणा को लेकर नहीं। वस्तुत: उन्होंने गीतों के ऐतिहासिक एवं शास्त्रीय महत्व को समझा था। ऐतिहासिक महत्व को देखते हुए यह स्पष्ट है कि भारत के प्राचीन नाटकों में गीतों का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। शास्त्रीय दृष्टि से भी गीतों का महत्व कम नहीं है। नाटकों में गद्य-संवादों के रहने से जो शिथिलता छाई रहती है उससे पाठक या दर्शक का मन ऊब जाता है इसीलिए नाटकों में गीतों की आवश्यकता होती है। पंडित शाँति प्रिय द्विवेदी जी के शब्दों में—

"जीवन-यात्रा के शुष्क मरू-प्रदेश से थककर मनुष्य किसी न किसी क्षण कुछ गुनगुना चाहेगा ही।" वास्तव में गीतों के रहने से नाटकों की दुरूहता दूर हो जाती है। इसका अर्थ यह नहीं कि नाटकों में गीतों की संख्या अधिक हो वरन् उसका उपयोग उचित अवसरों पर हो। प्रसाद के गीत चरित्र-चित्रण में भी सहायक हैं क्योंकि वे पात्रों की प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराते हैं। नाटक में गीत ही उनके पात्रों के प्राण हैं। इतना ही नहीं प्रसाद के गीत रस के उद्रेक एवं परिणाम की परिणति में भी सहायक हुए हैं। प्रसाद का कवि हृदय मचल उठता है और वे काव्य-प्रवृत्ति के वश में होकर नाटकों में गीतों का समन्वय करते हैं। गीतों की स्थानीय उपयुक्तता और भाव प्रदर्शन नाटक के दृष्यों को और भी अधिक तीव्र बना देते हैं। प्रसाद में सौन्दर्य, प्रेम और यौवन अपनी पूरी मादकता से छलकते से प्रतीत होते हैं। अभाव की वेदना पीछे छूट जाती है। उन्हीं के शब्दों में—अतिन्द्रिय जगत् की नक्षत्र मालिनी निशा को प्रकाशित करता हुआ भावना की सीमा को लाँघ जाय।' प्रसाद के कल्पना-लोक में एक अद्भुत मादकता है, उल्लास है, वहीं पर अनन्त प्रेम है, यौवन है, सौन्दर्य है। कितना अनन्त सुख है इस कल्पना में—

तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन रस कन ढ़रते।
हे लाज भरे सौन्दर्य !
बता दो, मौन बने रहते हो क्यों ?

अधरों के मधुर कंगारों में
कल-कल ध्वनि की गुंजारों में
मधुसरिता-सी यह हँसी
तरल अपनी पीते रहते हो क्यों ?[१]

भावोत्कर्ष में कवि-कल्पना कल्पना के अतीन्द्रिय लोक में ही जाकर विश्राम करती है। उपर्युक्त गीत में कल्पना की प्रौढ़ता एवं रसात्मकता के के दर्शन होते हैं। यौवन के उन्माद का उसके असंगत प्रवाह का एक चित्र देखिए—

आज इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा !
मधु पीकर पागल हुआ, करता प्रेम-प्रलाप,
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप ।
लाज के बंधन खोल रहा ।
बिछल रही चाँदनी, छवि-मतवाली रात,
कहती कम्पित अधर से, बहकाने की बात ।
कौन मधु मदिरा घोल रहा ?"[२]

असफल प्रेम, अतृप्त सौन्दर्य की झलक से खिन्न होकर भी कवि की उत्कट इच्छा होती है—

सुधा-सीकर से नहला दो ।
लहरें डूब रही हों रस में,
रह न जायें वे अपने बस में,
रूप-राशि इस व्यथित हृदय-सागर को—
बहला दो !"[३]

'प्रसाद' की कल्पना में उनका ऐन्द्रिय-सुख स्पन्दित होता सा प्रतीत होता है। उनका स्पर्श-सुख स्मृति का अनुराग, समय और स्थल का अस्तित्व ये सब मानो एक ही भाव में डूबकर नीरव निश्चल और अनन्त प्रकृति के अनादि तत्वों में मिल जाते हैं। यही कारण है कि प्रसाद के नाट्य-गीतों की अन्तिम

१. चन्द्रगुप्त मौर्य—प्रथमाँक, पृ०-६३, सं० २०१५ संस्करण—
२. वही—तृतीय अंक, पृ० ११५.
३. वही—चतुर्थ अंक, पृ० १७५.

पंक्तियाँ प्राय: प्रकृति में 'भव-विभव-पराभव' की शाश्वत क्रियाओं में गीत का सार प्रकट कर देती हैं। देव सेना अपनी सूनी वेदना को हृदय की करुणा के आवरण में और देर तक नहीं छिपा सकती—

'लौटा लो यह अपनी थाती,
मेरी करुणा हा-हा खाती ।
विश्व ! न सम्भलेगी यह मुझ से,
इसने मन की लाज गवाँई ।।"[1]

स्कन्दगुप्त नाटक में, जहाँ गीत रूप में पात्रों के हृदयोद्गार उनके जीवन की गतिविधियों की व्यापक पृष्ठभूमि में व्यक्त किये जाते हैं वहाँ उनकी अनुभूति का संवेदन और भी तीक्ष्ण व मर्मस्पर्शी होता है। किन्तु उन स्थलों पर जहां, असफल प्रेमियों, प्रणय वंचिताओं, जीवन पथ के श्रान्त-क्लान्त किन्तु कर्मठ वीरों, जीवन-संग्राम के व्रणों को सहलाते हुए अतीत की स्मृतियों के सम्बल पर जीवित रहने वाले सदाशय पात्रों, जीवन का जगत् का तटस्थ सिंहावलोकन करने वाले दार्शनिकों और चोट खाकर तड़पने वाले आर्त-हृदयों की पुकारें उठती हैं वहाँ पर प्रसाद के हृदय की अनुभूति का सारा स्रोत खुल पड़ता है। देवसेना अपनी कोमल भावनाओं का सागर लेकर जीवन के भावी सुख, आशा और आकाँक्षा सबसे बिदा लेती है। उसका प्रेम जीवन-गीतों में अनुप्राणित है, उस टूटे हुए प्रेम पल्लवित स्त्री-हृदय में कितनी कसक है और कितनी वेदना, जो श्रोता के हृदय को भी एक बार मथ डालती है—

आह ! वेदना मिली विदाई।
मैंने भ्रमवश जीवन संचित
मधुकरियों की भीख लुटाई।

छलछल थे संध्या के श्रमकण,
आंसू-से गिरते थे प्रतिक्षण।
मेरी यात्रा कर लेती थी—
नीरवता अनन्त अंगड़ाई ।।

भ्रमित स्वप्न की मधुमाया में,
गहन-विपिन की तरुछाया में,

---

१. स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य—पंचम अंक. पृ० १५४. सं० २००८ संस्करण

पथिक उनीदी श्रुति में किसने-
यह विहाग की तान उठाई ॥
लगी सतृष्ण दीठ थी सबकी,
रही बचाये फिरती कबकी ।
मेरी आशा आह ! बावली,
तूने खो दी सकल कमाई ॥[1]

एक के बाद दूसरी पंक्ति देवसेना के असफल प्रेम की वेदना को उसके जीवन की असार्थकता को जगत् से बचा बचाकर प्रेम से कोमल किसलय को पा लेने की थकान व्यक्त करती है । ऐसा प्रतीत होता है मानो जीवन शक्ति आज बुझ जायेगी । यहां तक कि अन्त में देवसेना अपने भावों का विलयन विश्व में कर देती है और एक ही भाव की तन्मयता में प्रसाद जी के पात्र, स्थल, गीत और दर्शक सभी बह जाते हैं ।

प्रसाद के कुछ गीतों में मर्म वेदना के चित्र भी मिलते हैं । अजातशत्रु में श्यामा का यह गीत इसी प्रकार का है, देखिए—

बहुत छिपाया, उफन पड़ा अब ।
संभालने का समय नहीं है ।
अखिल विश्व में सतेज फैला,
अनल हुआ यह प्रणय नहीं है ॥
कहीं तड़प कर गिरे न बिजली,
कहीं न वर्षा हो कालिमा की ।
तुम्हें न पाकर शशाँक मेरे,
बना शून्य यह, हृदय नहीं है ॥
× × ×
जली दीपमालिका प्राण की,
हृदय कुटी स्वच्छ हो गई है ।
पलक पांवड़े बिछा चुकी हूं,
न दूसरा और, भय नहीं है ॥
चपल निकलकर कहां चले अब,
इसे कुचल दो मृदुल चरण से ।

---

१. स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य—पंचम अंक, पृ० १५३. सं० २००८ संस्करण

कि आह निकले दवे हृदय से,
भला कहो, यह विजय नहीं है ।''[1]

अथवा, मातृगुप्त का यह गीत—

संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना ।
'वह उच्छृङ्खलता थी अपनी' कहकर मन मत बहलाना ।।
मादकता-सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी ।
मेरे निश्वासों से उठकर अधर चूमने को ठहरी ।।

× × ×

तुम अपनी निष्ठुर क्रीड़ा के विभ्रम से, बहकाने से,
सुखी हुए फिर लगे देखने मुझे पथिक पहचाने से ।
उस सुख का आलिंगन करने कभी भूलकर आ जाना,
मिलन-क्षितिज-तट मधु जलनिधि में मृदु हिलकोर उठा जाना ।।[2]

प्रसाद के ऐसे गीतों में उनके हृदय की अनुभूति समरस होकर आकाश में नीलिमा की भाँति फैल गई है । इन गीतों में निर्वेद, दैन्य, मद, मोह, स्मृति, विषाद, अमर्ष, उन्माद आदि सभी गंभीर भावनाओं की मार्मिक व्यंजना हुई है । कवि का हृदय इन गीतों में निखर आया है ।

कल्पना की उड़ान, अनुभूति की तींव्रता एवं प्रकृति की क्रियाओं में मानव की पूर्णता को दिखाने के पश्चात् भी प्रसाद किसी तथ्य तक नहीं पहुँच पाते क्योंकि वहाँ इतनी ऊँचाई पर फिर अत्यन्त शून्यता है, कल्पना निष्प्राण हैं और है बुद्धि से परे । देखिए—

क्षणिक वेदना अनन्त सुख बन, समझ लिया शून्य में बसेरा ।
पवन पकड़कर पता बताने न लौट आया न जाय कोई ।।[3]

कथोपकथन और अभिनय से हृदय के सम्पूर्ण भावों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती । मनुष्य के हृदय में छिपे भावों की अभिव्यक्ति करना गीत का लक्ष्य है । प्रसाद के नाट्य गीतों की यह प्रधान विशेषता है । नाटक में होने के कारण गीतों और काव्यों का अटूट सम्बन्ध चरित्र के चित्रपट पर उनका सौंदर्य और निखार देता है—

मीड़ मत खींचे बीन के तार······!

---

१. अजातशत्रु-द्वितीय अंक, पृ० ७८-७९ सं० २००५ संस्करण
२. स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य—प्रथम अंक, पृ० २३
३. अजातशत्रु—तृतीय अंक—पृ० १४९.

जितनी कोमलता से भाव की ग्रंथि खुली है, पीड़ा की कसक और असमर्थकता का दुःख उतनी ही करुणा से व्यक्त हुआ है—

निर्दय उँगली ! अरी ठहर जा,
पल-भर अनुकम्पा से भर जा,
यह मूर्छित मूर्छना आह-सी,
निकलेगी निस्सार !

छेड़-छेड़ कर मूक तन्त्र को—
विचलित कर मधु मौन यन्त्र को—
बिखरा दे मत, शून्य पवन में,
लय हो स्वर-संसार ।

मसल उठेगी सकरुण वीणा,
किसी हृदय को होगी पीड़ा ।
नृत्य करेगी नग्न विकलता
परदे के उस पार ।"[१]

प्रसाद के ये गीत केवल गीत ही नहीं अपितु संगीत की कसौटी पर भी पूरे खरे उतरते हैं । ये उनके संगीतज्ञ होने का परिचय देते हैं ।

अनुभूति की सहजता और गंभीरता उनके दार्शनिकता राष्ट्रीय व प्रकृति-प्रेम के गीतों में भी मिलती है । दार्शनिक भावना का एक चित्र 'स्कन्दगुप्त' में देखिए—

सब जीवन बीता जाता है धूप छाँह के खेल-सदृश
समय भागता है प्रतिक्षण में,
नव-अतीत के तुषार-कण में,
हमें लगाकर भविष्य-रण में,
आप कहाँ छिप जाता है ?
सब जीवन बीता······
बुल्ले, लहर, हवा के झोंके,
मेघ और बिजली के टोंके ।

१. अजातशत्रु—प्रथम अंक—पृ० ६२

किसका साहस है कुछ रोके
जीवन का वह नाता है।
सब जीवन बीता......[1]

इसी प्रकार एक दूसरे गीत में देश प्रेम का चित्रण किया गया है—

अरुण यह मधुमय देश हमारा,

जहां पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभापर—नाच रही तरुशिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर—मंगल कुंकुम सारा।

× × ×

हेम कुंभ ले उषा सबेरे—भरती ढुलकाती सुख मेरे,
मदिर ऊँघते रहते जब—जग कर रजनी भर तारा॥[2]

इस गीत में प्रसाद जी ने देश-प्रेम के अतिरिक्त अर्थ गरिमा, भावों की उदात्तता, कल्पना की रमणीयता व सौंदर्य-चित्रण को एक स्थान पर समाहित कर दिया है। इन दृष्टियों से प्रसाद का यह श्रेष्ठ गीत है।

वीरत्व भावना से अनुप्राणित करने वाले गीत में प्रसाद जी ने लिखा है—

हिमाद्रि तुंग श्रृंग से,
प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं प्रभा समुज्जवला
स्वतन्त्रता पुकारती—
"अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो॥
असँख्य कीर्तिरश्मियाँ,
विकीर्ण दिव्य दाह-सी।
सपूत मातृभूमि के—
रुको न शूर साहसी।
अराति सैन्य सिन्धु में—सुवाडवाग्नि से जलो,
प्रवीर हो जयी बनो—बढ़े चलो, बढ़े चलो।[3]

---

१. स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य—तृतीय अंक—पृ० ९०.
२. चन्द्रगुप्त मौर्य—द्वितीय अंक—पृ० १००
३. वही—चतुर्थ अंक—पृ० १९४

प्रसाद का यह गीत ओज-भावना के संचार के साथ-साथ छन्द-प्रवाह, और पद-सौष्ठव से भी पूर्ण है।

प्रसाद के सजीव चित्र कहीं-कहीं धरातल पर स्पष्ट उभर नहीं सके हैं परन्तु फिर भी उनकी आकृति हृदय में अंकित हो जाती है और ज्ञात होने लगता है मानों गीत के शब्द स्वयं चित्र बन गए हों। शैलेन्द्र की आलस्यपूर्ण तृष्णा श्यामा गाती ही है—

निर्जन गोधूली प्रान्तर में खोले पर्णकुटी के द्वार,
दीप जलाये बैठे थे तुम किये प्रतीक्षा पर अधिकार।
बटमारों से ठगे हुए की ठुकराये को लाखों से,
किसी पथिक की राह देखते अलस अकम्पित आँखों से।

× × ×

बीती बेला, नील गगन तम, छिन्न विपन्थी, भूला प्यार,
क्षपा-सदृश छिपना है फिर तो परिचय देंगे आंसू हार॥[1]

इस गीत का एक-एक शब्द पाठक के हृदय में सुनसान बीहड़ में बैठे हुए व्याकुल चित्त किन्तु बाहर से शान्त और संयत वियोग का चित्र स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित कर देता है।

प्रसाद प्रकृति की क्रियाओं को मानवीय भावों तथा मूर्त-चित्रों द्वारा उपस्थित करने में निपुण हैं। वे पार्थिव और अपार्थिव दोनों प्रकार के सौंदर्य को सचेत कर देते हैं। प्रेम जितना ही सुन्दर है, उतना ही मधुर। मालविका उतना ही सुन्दर, कोमल, स्निग्ध और पवित्र चित्र अपने नेत्रों में उतारने का प्रयत्न करती है—

ओ मेरी जीवन की स्मृति। ओ अन्तर के आतुर अनुराग।
बैठ गुलाबी विजन उषा में गाते कौन मनोहर राग;
चेतन सागर उर्मिल होता यह कैसी कम्पनमय तान,
यों अधीरता से न मीड़ लो अभी हुए हैं पुलकित प्रान॥[2]

कलाकार प्रसाद जी यह जानते हैं कि अनुराग का वर्ण क्या है किन्तु मालविका के अनुराग में क्या वही लाली थी, वह लाल न होकर गुलाबी

---

१. अजातशत्रु—द्वितीय अंक—पृ० १०४-१०५
२. चंद्रगुप्त मौर्य—चतुर्थ अंक—पृ० १८६

था। रक्तिम मालविका के प्राण उत्सर्ग के कगारे पर बैठे हुए प्राण अनुराग बनकर गाते-गाते उषा की गुलाबी झलक में विलीन हो जाते हैं।

प्रसाद जी की कल्पना सर्वत्र भावानुसारिणी है। गीतों में रसमूलक रमणीय कल्पना के ही दर्शन होते हैं। प्रभात की किरणों से सराबोर सुनहले कल्पना चित्र बहुत सुन्दर बन पड़े हैं। कवि कल्पना का सुन्दर-सौष्ठव ध्रुवस्वामिनी के इस गीत में दिखाई देता है—

'अस्ताचल पर युवती सन्ध्या की खुली अलक घुँघराली है।
लो, मानिक मदिरा की धारा अब बहने लगी निराली है।
भरली पहाड़ियों ने अपनी झीलों की रत्नमयी प्याली।
झुक चली चूमने वल्लरियों से लिपटी तरु की डाली है।[1]

ध्रुवस्वामिनी नाटक में इसी प्रकार के बहुत सुन्दर गीत भरे पड़े हैं। इन गीतों में कल्पना, भावुकता, चित्रमयता, लाक्षणिकता एवं रसात्मकता का सुन्दर समन्वय है। प्रसाद के नाट्य गीतों में एक आकर्षण शक्ति है जिससे हमारा हृदय खिचता है मन एकाकार हो जाता है। मंदाकिनी के गान में करुणा, वेदना और अतीत का दिग्दर्शन है। इस गीत में एक दर्दीला स्वर है, उसमें तड़पती एवं अतृप्त आत्मा की पुकार है। विश्व कल्याण की कामना करती हुई वह पुकार उठती है—

यह कसक अरे आँसू सहजा,
बनकर विनम्र अभिमान मुझे
मेरा अस्तित्व बता, रह जा।
बन प्रेम छलक कोने-कोने
अपनी नीरव गाथा कह जा।
करुणा बन दुखिया वसुधा पर
शीतलता फैलाता बह जा।[2]

इसी प्रकार की भावनाएँ प्रसाद के चन्द्रगुप्त में भी मिलती हैं। सुवासिनी गाती है—

'निकल मत बाहर दुर्बल आह।
लगेगा तुझे हँसी का शीत

---

१. ध्रुवस्वामिनी—जयशंकर प्रसाद
२. वही—पृ० १९, सं० २००५ संस्करण

शरद नीरद माला के बीच,
तड़प ले चपला-सी भयभीत ।
× × ×
हिलाकर धड़कन से अविनीत
जगा मत, सोया है सुकुमार ।
देखता है स्मृतियों का स्वप्न
हृदय पर मत कर अत्याचार ॥[१]

उपर्युक्त पंक्तियों से यही ज्ञात होता है कि प्रसाद के पात्रों की आत्मा इन गीतों में एकाकार हो गई है । इस सम्बन्ध में प्रसाद जी ने स्वयं ही लिखा भी है—'दुःख और करुणा मानव हृदय की कोमल एवं सूक्ष्म वृत्तियां हैं । मानव हृदय को ये जितना छू सकती हैं उतनी अधिक दूसरी नहीं ।' उन्होंने अपनी इसी धारणा की पुष्टि अपने नाट्य-गीतों में की है ।

प्रसाद के गीत नाटक में अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं । वे स्थान, पात्र एवं समयानुकूल हैं । डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने प्रसाद के नाट्य गीतों में कुछ अनौचित्य व त्रुटियां भी बताई हैं—

१. गीतों का अतिरेक जिसके कारण संगीत भी अरुचिकर हो जाता है ।

२. गीतों का लम्बा व अव्यावहारिक होना जिसके कारण रंगमंच पर उनकी अनुपयुक्तता ।

वस्तुतः उक्त आरोप उनके कुछ ही गीतों पर अंशतः लागू किये जा सकते हैं । समष्टि रूप से प्रसाद के नाट्यगीत प्रायः साभिप्राय दिखाई पड़ते है और कथा के मेल में हैं ।

इसके अतिरिक्त प्रसाद के नाट्यगीतों की एक विशेषता यह भी है कि यदि वे नाटकों से अलग करके संग्रहीत कर दिये जायँ तो उनके गीति तत्व (Lyric element) में कोई कमी नहीं आती । यह विशेषता हमें अन्य नाटककारों के नाटकों में नहीं मिलती । प्रसाद इस क्षेत्र में अग्रगण्य हैं ।

इनके नाट्यगीतों की भाषा संस्कृत निष्ठ परिष्कृत खड़ी बोली है । यह बड़ी ही सरस है और इसके भावों को समझना भी दुष्कर नहीं । कोमल स्निग्ध शब्दों का चयन, पद-योजना, छन्द-प्रवाह उनकी अपनी ही वस्तु है ।

---

१. चन्द्रगुप्त मौर्य—प्रथमांक, पृ० ६५

प्रसाद के नाट्यगीतों में संगीत की रसमयी धारा पूर्ण यौवन के साथ मदमाती सी अपना मार्ग स्वयं निर्मित करती चलती है। प्रत्येक शब्द में कोमलता ने अपना स्थान ग्रहण किया है। शब्द विन्यास मधुर एवं हृदयग्राही है। नाट्य-गीतों की मार्मिकता काव्यगत न होकर कथागत है। उसमें उनका आदर्श निहित है। प्रसाद जी ने स्वयं ही अपने इस आदर्श को व्यक्त किया है—

"कविता वह वर्णमय चित्र है जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाता है। अंधकार का आलोक से, जड़ का चेतन से और बाह्य-जगत् का अर्न्तजगत से सम्बन्ध करना उसका मुख्य उद्देश्य है।"

प्रसाद के नाट्यगीत एक के बाद एक इसी आदर्श को छूते चले जाते हैं।

# हिन्दी नाट्य-साहित्य—एक परिदृश्य

नाटक शब्द 'नट्' धातु से निकला है जिसका अर्थ है—नृत्य, नाचना, जो नाटक का एक प्रमुख अंग है। नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कथाएँ प्रचलित हैं परन्तु भरतमुनि की कथा को ही अधिक महत्व दिया जाता है क्योंकि उन्होंने कहा है—'एक बार वैवस्त मनु के दूसरे युग में लोग बहुत दुखित हुए इस पर अन्य देवताओं सहित इन्द्र ने ब्रह्मा से प्रार्थना की कि आप मनोविनोद का कोई ऐसा साधन उत्पन्न कीजिए जिससे सबका चित्त प्रसन्न हो सके। इस पर ब्रह्मा ने चारों वेदों को बुलाकर 'नाटक' नामक पाँचवे वेद की रचना की। इस पाँचवें वेद के लिए ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से नाट्य और अथर्ववेद से रस लिए गया था। डा० रवीन्द्र नाथ ने इसे अपने श्लोक द्वारा प्रामाणित सिद्ध किया है और कहा है—

इहानुक्रियते ब्रह्मा शक्रेणाभ्यासितः पुरा।
चकाराकृष्य रेदेभ्यो नाट्य वेदश्च पंचमम् ॥

इस श्लोक से स्पष्ट है कि नाटकीय रंगमंच का निर्माण विश्वकर्मा ने किया, शंकर और पार्वती ने क्रमशः ताण्डव एवं लास्य नृत्य बतलाए और विष्णु ने चार नाट्य शैलियाँ प्रदान कीं।

भारत में नाटकों के उदय के सम्बन्ध में मतभेद है और विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न धारणायें बतलाई जाती हैं। संस्कृत साहित्य के इतिहास में मैक्डोनल ने लिखा है—कि 'यही अनुमान होता है कि भारतीय नाटक की उत्पत्ति कृष्ण की उपासना के ही आधार पर हुई और इस कारण जो-जो नाटक खेले गए वे सभी धर्म सम्बन्धी थे, जिसमें श्रीकृष्ण चरित्र के दृश्य, नृत्य, गान एवं वार्त्ताओं द्वारा दिखलाए जाते थे। 'परन्तु पाश्चात्य विद्वान् लेवी और मैक्समूलर नाटकों की उत्पत्ति वैदिक ऋचाओं से मानते हैं। इन विद्वानों की धारणाओं से ऐसा आभास मिलता है कि नाटकों की उत्पत्ति में धार्मिक कृत्य, पुत्तलिका, नृत्य छाया प्रदर्शन आदि ने सहायता प्रदान की है।

भारतवर्ष में वैदिक काल से ही नाटकों की रचना होने लगी थी और वे खेले भी जाने लगे थे। इसके प्रमाण हमें रामायण और महाभारत दोनों ही प्रधान ग्रन्थों में मिलते हैं। बाल्मीकि ने रामायण में लिखा है—

"वादयन्ति तथा शान्ति लास्यन्त्यपि चापरे।
नाटकान्यपरे प्राहुर्ईस्यानि विविधानि च।"

इसी प्रकार महाभारत में भी संकेत देखिए—

'नाटका विविधाः काव्यः कथाख्यायिक कारकाः।'

इसके अतिरिक्त नाटकों का ऐतिहासिक ज्ञान हमें पाणिनि से पूर्व के कृशाश्व जैसे नाटक लक्षण के लेखक से मिलता है। इसके बाद ही भरतमुनि, धनंजय, विश्वनाथ आदि विद्वानों का नाम आता है। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार 'भास' ने बहुत से नाटकों की रचना की—स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञा-यौगन्धरायणम्, चारूदत्त, उरूभंग, प्रतिमा, बालचरित्र, पंचराज, दूतवाक्यम् इत्यादि इत्यादि। नाटकों की इस परम्परा से प्रभावित होकर नाटकों के सिद्धान्तों का बनाना आरम्भ हो चुका था। पाणिनि का काल ३०० ई० पू० माना जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारत में कई शताब्दि पूर्व नाटक की रचना होने लगी थी, परन्तु संस्कृत के महाकवि कालिदास के पूर्व के नाटकों का ज्ञान न होने के कारण हम नाट्यसाहित्य का अध्ययन कालिदास के युग से करते हैं।

कालिदास के तीन प्रसिद्ध नाटक हैं—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोवशी तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम्। इसके उपरान्त हर्ष ने 'रत्नावली' और प्रियदर्शिका नाटिकाओं तथा 'नागानन्द' नामक नाटक की रचना की थी और शूद्रक ने 'मृच्छ-कटिक' नामक एक सुन्दर नाटक लिखा। भवभूति भी कालिदास की भाँति ही सुप्रसिद्ध कवि हुए और उन्होंने तीन प्रसिद्ध नाटकों की रचना की—महावीर चरित्र, उत्तर रामचरित्र और माधव इनके उपरान्त वेणी संहार तथा मुद्राराक्षस नामक नाटक भट्ट तथा विशाखदत्त द्वारा क्रमशः रचे गए। दशवीं शताब्दी में राजशेखर के द्वारा कर्पूर मंजरी, विद्धशाल मंजिका और बालरामायण नाटक लिखे गए। साथ ही अन्य संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककारों—कृष्ण मिश्र, मुरारी, जयदेव आदि ने नाटकों की रचना की।

नवीं शताब्दी में भारत पर विदेशियों का आक्रमण हुआ और संस्कृति साहित्य पुनः नपनप सका। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में अच्छे नाटकों का

सर्वथा अभाव था। मुगलों के शासन की परिधि में जकड़ी हुई जनता इस दिशा की ओर से बिलकुल ही विमुख थी। नाट्यकला केवल रामलीला और रासलीला के रूप में अवशिष्ट रह गई थी।

हिन्दी नाटक आधुनिक युग की देन है। भारतेन्दु से पूव हिन्दी में हमें नाटकों का अभाव सा ही मिलता है उस समय के जो नाटक उपलब्ध हैं वे प्रायः नाटकीय कविता ही हैं नाटक नहीं। कारण यह था कि हिन्दी के इस उदयकाल में रंगमंच की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया, दूसरे मुगलकाल की सत्ता में नाटकों को कोई स्थान न था तथा हिन्दी गद्य का कोई निश्चित रूप भी निर्मित न हो सका था। इसके अतिरिक्त जन जीवन में उत्साह का अभाव था, पारसी कम्पनियाँ उर्दू नाटकों को पसन्द करती थीं। डॉ० सोमनाथ गुप्त ने 'हिन्दी नाटक का इतिहास' नामक अपने शोध ग्रंथ में यह निश्चित किया है कि हिन्दी का प्रथम नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय'(१६४३), संस्कृत का अनुवाद है। दूसरा नाटक रीवाँ नरेश महाराज विश्वसिंह जू कृत 'आनन्द रघुनन्द' है। इन्हीं का लिखा हुआ एक नाटक 'गीता रघुनन्दन' भी है। नाटक का विकास दो धाराओं में हुआ—एक तो मौलिक दूसरे अनुवादित। राजा लक्ष्मणसिंह का अनुवादित 'शकुन्तला (१८६१) तथा गोपालचन्द कृत 'नहुष' इन धाराओं के प्रतिनिधि रूप कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार आगरा के बनारसी दास ने सं० १६६३ में 'समयसार' नाटक लिखा दूसरे प्राणचन्द ने संवत १६१७ में 'रामायण महा-नाटक' लिखा जो दोहा चौपाइयों में कथोपकथन के रूप में है। देव ने 'देवमायाप्रपंच' नाटक लिखा। सं० १६८० में हृदयराम ने हनुमन्नाटक का अनुवाद किया। 'आनन्द रघुनन्दन' ब्रजभाषा में लिखा प्रथम नाटक है। भारतेन्दु इसे हिन्दी का प्रथम नाटक मानते थे। पद्यों के प्राचुर्य के बाद भी इसके सब संवाद ब्रजभाषा गद्य में हैं। आचार्य शुक्ल जी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है कि—'भारतेन्दु के पहले नाटक के नाम से जो चार ग्रन्थ ब्रजभाषा में लिखे गए थे उनमें 'आनन्द रघुनन्दन' को छोड़कर और किसी में नाटकत्व न था। बहुत से लोग 'नहुष' को ही हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक नाटक मानते हैं।

इसके साथ ही रंगमंचीय नाटकों का विकास शीघ्रता से प्रारम्भ हुआ। इसमें मुंशी अमानत खाँ का 'इन्दर सभा' उल्लेखनीय रचना है। इस शैली के अनुकरण पर कई नाटक बने जैसे 'मुछन्दर सभा' 'बन्दर सभा' इत्यादि। डॉ० श्रीकृष्ण लाल जी का तो कथन यहाँ तक है कि "पारसी कम्पनियाँ

अपना अपना नाटककार रखतीं और नाटक लिखवाती थीं। ये रंगमंच की दृष्टि से नाटक लिखते थे। इनमें 'रौनक बनारसी', विनायक प्रसाद तालिब, अहसान लखनवी बहुत प्रसिद्ध हैं। रौनक का 'गुलबकावली' और 'इन्साफे महमूद' प्रसिद्ध हैं। अनुवाद की दिशा में भी कार्य हुआ राजा लक्ष्मणसिंह की 'शकुन्तला' के पश्चात् स्वयं भारतेन्दु हरिचन्द्र ने अनुवाद भी किये और कई मौलिक नाटक तैयार भी किये। श्री निवासदास, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, तोताराम, अम्बिकादत्त व्यास, राधा कृष्णदास, बदरीनारायण चौधरी और रायदेवीप्रसाद पूर्ण ने हरिचन्द्र की परम्परा पर नाटकों की सृष्टि की।[१]

भारतेन्दु के आगमन से हिन्दी में नाटक रचना को एक नवीन दिशा मिली। उनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य साहित्यकार को साहित्य सृजन की ओर प्रोत्साहित करना था। उन्होंने कुछ मौलिक नाटकों की रचना की तथा कुछ संस्कृत, बंगला एवं अंग्रेजी आदि के नाटकों का अनुवाद किया। वस्तुतः हिन्दी में नाटकों के जन्मदाता भारतेन्दु जी थे। उन्होंने प्राचीनता और नवीनता को समन्वित कर नाटकों में अंकित किया। नाटकों में खड़ी बोली का प्रथमबार प्रयोग इन्हीं के द्वारा हुआ। संस्कृत और अंग्रेजी की शैली के मध्यस्थ मार्ग को इन्होंने अपने नाटकों के लिए चुना। यही कारण है कि इनके नाटकों में शृंगार, हास्य, कौतुक, समाज संस्कार और देशवत्सलता का सुन्दर सामन्जस्य हो सका है। इनके नाटकों में जीवन का बहुरंगी चित्र बड़ी सुन्दरता के साथ उतर सका है। इन्होंने १४ नाटक लिखे जिनमें एकाँकी और प्रहसन भी हैं—इनमें 'सत्य हरिचन्द्र', मुद्राराक्षस, नीलदेवी, भारत दुर्दशा, अन्धेर नगरी, चन्द्रावली आदि प्रमुख हैं। ये नाटक रंगमंच पर भी सफलतापूर्वक खेले गए और इनकी परिपाटी पर अनेक नाट्यकारों ने रचनाएँ की हैं। इनके अतिरिक्त 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रेमयोगिनी, नीलदेवी, विषस्यविषमौषधम्, भारत दुर्दशा, भारत जननी, सती प्रणय, कर्पूर मंजरी आदि लघु नाटक भी प्रस्तुत किए।

आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'सत्य हरिचन्द्र' मौलिक नाटक होते हुए भी बंगला का अनुवाद कहा जा सकता है। 'भारत-दुर्दशा' में देश की सोचनीय स्थिति को दिखाकर राष्ट्र-जागरण का संदेश दिया गया है। 'नीलदेवी' में भारतीय ललनाओं की वीरता को निरूपित किया गया है। कलात्मक दृष्टि से

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य—डा० श्रीकृष्णलाल-पृ० २०४

'वैदिकीहिंसा हिंसा न भवति' और 'अंधेर नगरी' बहुत समान हैं। इनमें शिष्ट हास्य, तीखा व्यंग्य और चुटीली भाषा का प्रयोग किया गया है। बड़े-बड़े नाटकों में प्रस्तावना भी रहती है साथ ही साथ कहीं कहीं वे पताका, स्थानक आदि का प्रयोग भी कर देते हैं।

डॉ० सोमनाथ गुप्त ने इसके योगदान के सम्बन्ध में लिखा है।[1]

"भारतेन्दु ने संस्कृत नाटक शास्त्र की निर्धारित परम्परा में सबसे बड़ा परिवर्तन किया। नाटक के विषय को उन्होंने इतना विस्तृत और अनेक रूपी बना दिया कि लेखक के सामने कोई कठिनाई नहीं रही। ऐसा करने से नाटक में जीवन प्रदर्शन करने की विशालता का समावेश हो गया और लेखक की विचारधारा सीमित न रहकर अनेक नवीन आख्यानों में लग गई। पात्रों के चुनाव और चरित्र चित्रण की दृष्टि ने भी परिधि को और अधिक विस्तृत कर दिया, सब प्रकार के पात्र लिए गए हैं और सबका चरित्र प्रत्येक पात्र के अनुकूल है, उपदेशप्रद और यथार्थ भी। इस पर वैसा ध्यान नहीं दिया जैसा संस्कृत के नाटक लेखकों ने···भारतेन्दु की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें साहित्य भी है और अभिनीति होने की क्षमता भी···लेखक अपने पात्रों को सजीव और यथार्थ रखना चाहता है। अपने नाट्य विधान में वे संस्कृत के पूर्ण पक्षपाती नहीं रहे उनमें अपनी मौलिकता भी है। एक अमूल्य देन उनके गीत हैं··· उन्होंने अनुवाद और मौलिक दोनों नाटकीय परम्पराओं को जीवित रखा और नवीन परम्पराओं का श्रीगणेश भी किया, एकांकी नाटकों की परम्परा उन्हीं से चली, प्रहसन की परम्परा के जन्मदाता भारतेन्दु ही हैं···उन्होंने अभिनय सम्बन्धी सुधार किये।"···

भारतेन्दु युग के कई नाटक कई धाराओं में विकसित हुए जैसे—ऐतिहासिक, राष्ट्रीय, समस्या प्रधान, हास्य व्यंग्य प्रधान, पौराणिक और धार्मिक। पौराणिक धार्मिक धारा में शीतला प्रसाद त्रिपाठी कृत 'रामचरितावली', दामोदर सप्रेम कृत 'रामलीला', ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत 'सीतावनवास', बदरी-नारायण चौधरी 'प्रेमघन' कृत 'महारास', चन्द्रधर शर्मा का 'उषाहरण, अयोध्यासिंह उपाध्याय कृत 'प्रद्युम्न विजय' तथा 'रुक्मिणी परिणय' प्रमुख नाटक हैं। ऐतिहासिक धारा में भारतेन्दु कृत 'नीलदेवी', राधाकृष्णदास कृत 'पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप', काशीनाथ खत्री कृत 'तीन परम मनोहर',

१. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डॉ० सोमनाथ गुप्त-पृ० ८१।

ऐतिहासिक रूपक, बैकुण्ठनाथ दुग्गल कृत 'श्रीहर्ष', गोपालराम कृत 'यौवन योगिनी', बलदेवप्रसाद गुप्त कृत 'मीराबाई', सय्यद शेर अलीकृत 'कत्ल', हकीकतराय और गंगाप्रसाद गुप्त कृत 'वीर जयमल' आदि नाटक हैं। राष्ट्रीय धारा में भारतेन्दु कृत 'भारत दुर्दशा' शरत कुमार मुकर्जी का भारतोद्धार, खड्ग बहादुर मल्ल कृत 'भारत आरत' अम्बिकादत्त व्यास कृत—'भारत सौभाग्य, गोपालराम गहमरी कृत 'देशदशा, प्रताप नारायण मिश्र कृत 'भारत दुर्दशा' आदि राष्ट्रीय विचारों से पूर्ण नाटकों की रचना हुई।

भारतेन्दु युग के नाटककारों में श्री निवासदास जी का नाम सर्वप्रथम आता है, जिन्होंने हिन्दी के अच्छे नाटक 'परीक्षागुरु' की रचना की। इनके अन्य नाटकों में 'प्रहलाद चरित्र' 'संयोगिता' स्वयंबर, रणधीर और 'प्रेम मोहिनी' तथा 'तपता संवरण' हैं लाला जी की मुख्य देन दुःखान्त नाटक हैं। बालकृष्ण भट्ट के छः नाटक प्रसिद्ध हैं—'कलिराज की सभा' रेल का विकट खेल, बाल विवाह, पद्मावती, शर्मिष्ठा देवयानी और 'चन्द्रलेखा' ये अधिकतर लम्बे वार्तालापों से भरे हुए हैं। तोताराम कृत 'केटो वृतान्त', पं० प्रताप नारायण मिश्र के 'गो सकट' 'कलि प्रभाव' जुआरी ख्वारी और 'हठी हमीर' नाटक साहित्यिक रंगमंच पर आये। इसी बीच राधाचरण गोस्वामी ने 'सती चन्द्रावली' 'अमर सिंह राठौर' श्रीदान, पूरे नाटक तथा 'बूढ़े मुँह मुँहासे, तन मन-धन गोसाई जी के अर्पण' भंग तरंग और यमलोक यात्रा आदि प्रहसन लिखे। डॉ० रामविलास शर्मा ने अपने 'भारतेन्दु युग' नामक ग्रन्थ में इनके सम्बन्ध में लिखा है—'विचारों की उग्रता और प्रगतिशीलता में यह अपने युग के अन्य सभी लेखकों से संभवतः आगे थे। व्यंग्य के छींटे इधर-उधर अपनी रचनाओं में बहुत लेखक दे सकते हैं परन्तु उनका व्यंग्य ऐसा है जो शिथिल न हो और हास्य में परिणत हो जाय। उनके नाटकों में हमें उस नाटक की परम्परा का पूर्ण विकास मिलता है, जिससे व्यंग्य और हास्य के साथ-साथ कथावस्तु द्वारा समाज सुधार की चेष्टा की गई है। यह स्वयं गोस्वामी थे, परन्तु पानी में रहकर मगर से बैर की चेतावनी से भय न करके उन्होंने गोसाइयों के विरुद्ध अपना प्रहसन लिखा था। बूढ़े मुँह मुँहासे में इन्होंने किसान और जमींदार के संघर्ष को अपनी कथावस्तु बनाया है और उसमें भी मुसलमान और हिन्दू किसानों की एकता दिखाकर गावों के वर्ग-युद्ध और हिन्दू मुसलिम समस्याओं पर प्रकाश डाला है।

भारतेन्दु काल के अन्तिम समय में श्री राधाकृष्ण दास जी का आगमन हुआ। अपने चार प्रसिद्ध नाटक—दु:खिनी बाला (१८८०), महारानी पद्मावती (१८८२), धर्मालिय (१८८५), महाराणा प्रताप सिंह (१८९७), लिखे। 'दुखिनी बाला' सामाजिक नाटक है। 'महारानी पद्मावती' और 'महाराणा प्रतापसिंह' प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक हैं। 'धर्मालिय' विभिन्न मतवाले धर्मावलम्बियों का वार्तालाप है। डॉ० सोमनाथ गुप्त ने आपके सम्बन्ध में लिखा है—"आपकी नाट्यकला में एक प्रसिद्ध विकास दिखाई देता है··· आपका साहस संस्कृत परम्परा तोड़ने का तो न हुआ परन्तु अन्य नाटकीय तत्वों में उन्होंने बिलकुल वर्तमान प्रणाली को अपनाया है। चरित्र चित्रण तत्व का निर्वाह भली-भाँति किया है। ऐतिहासिक पात्रों का चरित्र अच्छा, स्वाभाविक और स्पष्ट है। भाषा साधारणतया अच्छी है। मुसलमान पात्र उर्दू बोलते हैं। भारतेन्दु काल के नाटककारों में राधाकृष्णदास दास का प्रमुख स्थान है।" श्री केशवराम भट्ट ने 'सज्जाद संबुल' 'शमशाद सौसन' नामक दो नाटक लिखे,' जिसमें उर्दू के शब्दों की भरमार है।

किशोरी लाल गोस्वामी ने मयंक मंजरी, नाट्य सम्भव रूपक और चौपट चपेट (प्रहसन) की रचना की। 'मयंक मंजरी' में कथावस्तु का कलात्मक विकासक्रम है। नाट्य सम्भव रूपक में नाटक की उत्पत्ति को लेकर एक कथानक निर्मित किया गया है। 'चौपट चपेट' में लम्पटों की दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। देवकीनन्दन त्रिपाठी ने लघु नाटकों की रचना की है। इस दिशा में आपने 'रुक्मिणी हरण' 'रामलीला', कंसबध, लक्ष्मी सरस्वती मिलन' प्रचण्ड गोरक्षण, बाल विवाह, गोबध निषेध, कलियुगी जनेऊ, कलियुगी विवाह, रक्षा बंधन, एक एक में तीन तीन, स्त्रीचरित्र, वेश्या विलास, बैल छै टके का, आदि एकांकी नाटक बड़े प्रसिद्ध हैं। इनमें मूलरूप से सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है।

हिन्दी नाट्य-साहित्य से द्वितीय उत्थान में पं० महाबीर प्रसाद द्विवेदी जी ने साहित्य संवर्द्धन का कार्य तीव्रगति से किया। इस समय नाटककारों में दो प्रमुख धारायें थीं १—रंगमंचीय नाटककार २—साहित्यिक नाटककार। उस समय पारसी और पाश्चात्य रंगमंचों की धूम मची हुई थी और विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी, न्यू अल्फ्रेड कम्पनी आदि की प्रेरणा से अनेक नाटककारों ने नाटकों की रचना की जिनमें पं० नारायण प्रसाद 'बेताव' मेंहदी हसन

अहसान, आगा मोहम्मद, हश्र काश्मीरी, पं० राधेश्याम कथावाचक आदि प्रसिद्ध हैं। पारसी नाटक मंडलियों के अतिरिक्त सूर विजय और 'व्याकुल भारत' नाम की दो नाटक मंडलियों ने नाटक लिखवाकर हिन्दी साहित्य की बड़ी सेवा की है। रंगमंच की सजावट, अभिनेता की वेशभूषा, वातावरण निर्माण की सुन्दरता नाटक को रोचक बना देती थी। साहित्यिक नाटककारों में पं० माधव शुक्ल, आनन्द प्रसाद खत्री, हरिदास माणिक, पं० माखन लाल चतुर्वेदी, बदरीनाथ भट्ट, जमुना प्रसाद मेहरा, दुर्गा प्रसाद गुप्त, जी० पी० श्रीवास्तव आदि ने प्रहसन के निर्माण की दिशा में उत्तम कार्य किया है। पं० माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' सुन्दर साहित्यिक नाटक है। धार्मिक पौराणिक धारा को लेकर लोकप्रिय नाटकों की रचना करने वाले लोगों में पं० राधेश्याम कथावाचक का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके 'श्री कृष्ण अवतार', रुक्मिणी मंगल, 'वीर अभिमन्यु', 'मशरिकी हूर', श्रवणकुमार, ईश्वर भक्ति भक्त प्रहलाद, द्रौपदी स्वयम्वर आदि नाटक बड़े लोक प्रिय हुए। अपने नाटकों में इन्होंने आदर्श की प्रतिष्ठा, भारतीय संस्कृत की रक्षा और सुरुचि का सदैव ध्यान रखा है।

प्रसाद जी के आगमन से निश्चय ही हिन्दी नाट्य साहित्य को एक ज्योति मिली जिससे उसका उत्थान हुआ। प्रसाद जी ऐतिहासिक, पौराणिक एवं सांस्कृतिक नाटकों को लेकर हिन्दी में अवतीर्ण हुए। इन नाटकों पर अंग्रेजी, बंगला एवं संस्कृत—तीन भाषाओं का प्रभाव पड़ा जो नाटक की घटनाओं में एक लड़ी की तरह गूँथ दिए गए हैं। नाटकीय क्षेत्र में इन्होंने प्राचीनता और नवीनता के समन्वित रूप को उपस्थित किया है। अपने ऐतिहासिक नाटकों द्वारा राष्ट्रीय जागृति, नए आदर्श, भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध श्रृद्धा व्यक्त की है। भारतीय संस्कृति के अनुराग को लेकर इन्होंने साहित्यिक माध्यमों के नए आदर्श उपस्थित किये थे। उनके नाटक सज्जन, करुणालय, प्रायश्चित, राज्य श्री, विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, एक घूँट तथा ध्रुवस्वामिनी हैं। इनके नाटकों की प्रमुख विशेषता उनकी ऐतिहासिक गवेषणा की शक्ति, बौद्धकालीन भारत का सच्चा चित्रण, भारतीय संस्कृति का चित्रण, आदर्श और यथार्थ का समन्वय, मनोवैज्ञानिकता, भावुकतापूर्ण नाटकीय संवाद, नाट्य विधानों में पाश्चात्य सिद्धान्तों का समावेश, मधुर गीत और भावगुंफित भाषा है। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व और वहिर्द्वन्द्व

में मनोवैज्ञानिकता भी दर्शनीय है। दार्शनिकता की भावना से सराबोर कर कहीं-कहीं दु:खान्त नाटकों में सन्तोष का मार्ग प्रशस्त किया गया है। साहित्यिक कला और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से इनके नाटक अद्वितीय हैं।

प्रसाद युगीन नाटककारों में जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, पं० गोविन्द बल्लभ पंत, हरिकृष्ण प्रेमी, बेचन शर्मा 'उग्र' विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', मिश्रबंधु सुदर्शन आदि प्रसिद्ध हैं। मिलिन्द जी का 'प्रताप प्रतिज्ञा' राष्ट्रीय भावना से पूर्ण बड़ा सजीव नाटक है जिसकी देश प्रेम की भावना शरीर को ओज प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त आपने 'गौतम गौतमनन्द' और 'समर्पण' नाटकों की सृष्टि की है। पं० गोविन्द बल्लभ पंत कृत 'वरमाला' ऐतिहासिक आख्यान पर आधारित एक सुन्दर रोमाँटिक नाटक है। मिश्रबन्धुओं का 'पूर्वभारत' महाभारत के आदि पर्व से लेकर उत्तरा-विवाद तक की कथा को प्रस्तुत करता है। सुदर्शन कृत 'अंजना' पतिव्रता 'अंजना' की प्रेम कहानी पर आधारित सफल नाटक है। इनका ऐतिहासिक नाटक 'दयानन्द' है। उग्र कृत 'महात्मा ईसा' चन्द्रराज भंडारीकृत 'सिद्धार्थ' और 'सम्राट अशोक' प्रेमचन्द का कर्बला,' बद्रीनाथ भट्ट का 'दुर्गावती,' लक्ष्मीधर वाजपेयी का 'राजकुमार कुन्तल' वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध यामुन' आदि नाटक हैं। इनमें राष्ट्रजागरण के स्वर विद्यमान हैं।

वर्तमान युग के नाटकीय क्षेत्र में कार्य करने वालों में श्री सेठ गोविन्ददास पं० उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', डा० वृन्दावन लाल वर्मा, पृथ्वीनाथ शर्मा, सद्गुरुशरण अवस्थी, पं० रामनरेश त्रिपाठी और रामवृक्ष बेनीपुरी हैं इन नाटकों के अतिरिक्त एकांकी की भी बहुत धूम है। इस क्षेत्र में डा० रामकुमार वर्मा, उपेन्द्र नाथ 'अश्क', सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, भुवनेश्वर प्रसाद, डॉ०लक्ष्मी-नारायण लाल, डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० प्रेमनारायण टंडन, जयनाथ नलिन और माचवे आदि ने महत्वपूर्ण कार्य किया है।

सेठ गोविन्ददास ने हर्ष, प्रकाश कर्त्तव्य, सेवापथ, कुलीनता, विकास, शशिगुप्त, दु:ख क्यों ? कर्ण, महत्व किसे ? बड़ा पापी कौन ? दलितकुसुम, पतित सुमन, हिंसा अहिंसा, संतोष कहाँ। पाकिस्तान, त्याग या ग्रहण नवरस आदि नाटक लिखे हैं। साथ ही 'सप्तरश्मि', 'पंचभूत' आदि एकांकी भी !

इनमें पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी प्रकार की रचनाएँ हैं। अधिकतर नवीन समस्याओं को उठाकर उनका समाधान कराया गया है।

उदयशंकर भट्ट ने 'विक्रमादित्य', दाहर, अम्बा, 'सगर विजय', मत्स्य गन्धा विश्वामित्र, कमला राधा, अन्तहीन, अन्त मुक्ति पथ, शक विजय, कालिदास, मेघदूत और विक्रमोयवशी आदि पूरे नाटक तथा कुछ एकांकी नाटकों के संग्रह प्रदान किए हैं। ऐतिहासिक नाटक इनकी मुख्य देन हैं साँस्कृतिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि से 'दाहर' विक्रमादित्य, 'मुक्तिपथ और 'शक विजय' सुन्दर नाटक हैं। आपके नाटकों में पाखण्ड, आडम्बर, कट्टरता और समाज के खोखलेपन का जो चित्र खींचा गया है वह बहुत सुन्दर है।

डॉ० मैथिलीशरण गुप्त ने 'चन्द्रहास' नामक एक ऐतिहासिक नाटक लिखा है। पं लक्ष्मीनारायण मिश्र ने नई शैली और नई विचारधारा के आधार पर नाटकों की रचना की है इनके नाटक मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर आधारित हैं। आपने 'सन्यासी' 'मुक्ति का रहस्य', 'सिन्दूर की होली' 'राक्षस का मंदिर 'राजयोग' 'आधीरात' अशोक गरुड़ध्वज' 'नारद की वीणा' 'वत्सरज' आदि बुद्धि प्रधान, तर्क पूर्ण समस्या नाटकों की रचना की है। इन्होंने समाज की सेक्स (Sex) समस्याओं को सुलझाकर एक नवीन मार्ग प्रशस्त किया है।

उपेन्द्र नाय 'अश्क' हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में जाने माने कलाकार हैं। 'जय पराजय' स्वर्ग की झलक', 'कैद', 'उड़ान', छटा बेटा', आदि मार्ग', पैंतरे इनके नाटक हैं देवताओं की छाया में' 'तूफान से पहले' 'चरवाहे' इनके एकाँकी नाटकों के संग्रह हैं। देशकाल और अभिनय का ध्यान, संवादों की चुस्ती और रंगमंच की अनुकूलता आपकी विशेषताएँ हैं। अपने नाटकों में अश्क ने समाज की रुढ़ियों की चक्की में पिसते और विद्रोह करते हुए अपने पात्रों के जीवन की पूरी झलक दी है।

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' के चौदह मौलिक ऐतिहासिक सामाजिक नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। 'स्वर्ण विज्ञान', 'पाताल विजय', 'रक्षा बंधन', 'शिव साधना', 'प्रतिशोध', आहुति' 'स्वप्न भंग', 'छाया', 'बंधन', 'मंदिर', 'मित्र' 'विषपान', 'उद्धार', 'शपथ' इत्यादि प्रेमी जी के नाटक हैं। इनके नाटकों की पृष्ठभूमि मुगल साम्राज्य है। कल्पना और इतिहास के समन्वित रूप को लेकर प्रेमी जी ने देश प्रेम के गौरव को बढ़ाया है। राष्ट्र की एकता, गुलामी तोड़ने के प्रयत्न और लोगों की बेबसी उनके नाटकों में आकर बसी है। इनके

ऐतिहासिक पात्र सजीव और सुन्दर है हैं। राष्ट्रीय भावधारा इनके नाटकों की प्राण हैं।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उत्सर्ग, अमरसिंह, अजीतसिंह, गान्धारी, छत्रसाल पगध्वनि, राजसिंह, श्रीराम आदि बड़े नाटक हैं', और साथ ही पाँच एकाँकी संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। राजपूती जीवन से संघर्ष और विध्वंश के सजीव चित्र शास्त्री जी ने नाटकों में प्रस्तुत किए हैं। डॉ० वृन्दावन लाल वर्मा ने उपन्यास के साथ नाट्य साहित्य में भी बहुत कार्य किया है। इनके नाटकों में 'राखी की लाज', फूलों की बोली, बाँस की फांस, काश्मीर का काँटा, झाँसी की रानी, हँस मयूर. पायल, मंगल सूत्र, खिलौने की खोज, पूर्व की ओर, बीरबल, लो पंचों लो, पीले हाथ आदि उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। इनके नाटक अपनी ऐतिहासिकता और सामाजिकता दोनों के लिए प्रसिद्ध हैं। संक्षिप्त और सरल संवाद, गतिशील भाषा और अभिनयशीलता इनकी सबसे बड़ी विशेषता है। पृथ्वीनाथ शर्मा ने अपराधी, दुविधा और उर्मिला नामक नाटक लिखे हैं। चरित्र चित्रण और टेकनीक की दृष्टि से शर्मा जी विशेष सफल हैं। जगदीशचन्द्र माथुर के 'भोर का तारा, और कोणार्क प्रसिद्ध नाटक हैं। इनके कोणार्क नाटक में हम संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना और पाश्चात्य नाटकों के प्रोलौग एवं एमिलौग तथा कोरस की झलक पाते हैं। डॉ० सत्येन्द्र जी के शब्दों में इस नाटक की करूणा तथा विजय कथा में एक ओर सौंदर्य और प्रेम की प्रेरणा का प्रवाह है दूसरी ओर वात्सल्य का संचार, तीसरी ओर शिल्प और सौंदर्य का अभिनिवेश कला और पुरुषार्थ का संयोग तथा जनशक्ति की राजनीति का प्रदर्शन। धर्मपद ने चालुक्य सेना को इतने समय तक रोका कि प्रजावत्सल राजा नरसिंह देव का शत्रु चालुक्य उसके नीचे स्वयं दबकर नष्ट हो गया। कलाकारों ने कला भी प्रस्तुत की और प्रजावत्सल राजा को निष्कंटक भी किया। उनकी कला ही महान् नहीं थी, उनका बलिदान भी महान् था। इस समस्त वस्तु को ओजस्वी ढंग से नाटककार ने प्रस्तुत किया है। यह सर्वथा अभिनेय और अभिनन्दनीय है। एक भी स्त्री पात्र न होने पर भी उसमें नारी की महत्ता, उसके प्रेम और मातृत्व का महान् प्रतिपादन विद्यमान है।

रामवृक्ष बेनीपुरी जी के 'अम्बपाली', 'शुकन्तला अमरज्योति' खून की याद', 'गांव का देवता' 'तथागत', 'नया समाज' 'विजेता', 'सीता की माँ— आदि नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। नए विचारों से पूर्ण सजीव भाषा शैली

में ये लिखे हैं गए हैं। 'रेखा' और 'अशोक' चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के प्रसिद्ध नाटक हैं। स्वर्गीय पं० रामनरेश त्रिपाठी जी ने मौलिक नाटकों की रचना की थी। इनके 'जयन्त प्रेमलोक', 'बफाती चाचा' 'अजनवी' तथा 'पैसा परमेश्वर' प्रसिद्ध सामाजिक समस्यामूलक नाटक हैं। इन्होंने आधुनिक समस्याओं को अपने नाटक का मूल आधार बनाया है। डॉ० सत्येन्द्र ने संगीतपूर्ण ऐतिहासिक नाटकों का निर्माण किया है। ये नाटक 'मुक्तियज्ञ और कुणाल' हैं। प्रेमचन्द जी के भी तीन नाटक 'संग्राम', 'कर्बला' और प्रेम की वेदी हैं। इनमें जमीदारों की लोलुपता, सज्जनता का बाह्य प्रदर्शन, निरंकुशता पुलिस का भ्रष्टाचार, थानेदारों के अत्याचार, घूस, बेगार, किसानों की बेबसी, घोर निर्धनता, गुलामी एवं प्राचीन आदर्शों की रक्षा आदि को प्रकट किया गया है। पं० सदगुरु शरण अवस्थी के 'मझली महरानी' और 'मुद्रिका' प्रसिद्ध नाटक हैं। पं० सीताराम चतुर्वेदी ने भी अजन्ता, अनारकली, देवता, शबरी, सिद्धार्थ और 'सेनापति पुष्यमित्र' नामक ऐतिहासिक नाटकों की रचना की है। पं० गोविन्द बल्लभ पंत के 'अंगूर की बेटी', अन्तःपुर का छिद्र, 'ययाति', 'राजमुकुट' और 'सुहागविन्दी' नामक प्रसिद्ध नाटक हैं।

इनके अतिरिक्त हिन्दी में देशी विदेशी नाटकों के अनुवाद का कार्य भी होता रहा है। इसमें मूलरूप से संस्कृत, बंगला, उर्दू तथा अंग्रेजी भाषाओं से नाटकों के अनुवाद हुए हैं। पं० सूर्यनारायण दीक्षित एवं रूप नारायण पाण्डेय, श्री रामचन्द्र वर्मा, सुमन, प्रेमचन्द, पं० ललिता प्रसाद शुक्ल, मंगल देव शास्त्री आदि अनुवादकोंने अनेक नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किए। शेक्सपीयर के नाटकों को हिन्दी में अनुवादित कर इन्होंने बहुत बड़ा कार्य किया है। इनके अनुवादित नाटकों में 'अपनी अपनी रुचि' 'ओथेलो' जंगल में मंगल' 'जूलियस सीजर' 'डेनमार्क का राजकुमार' 'प्रेम कसौटी' 'बगुला भगत' 'भूलभुलैया' 'मनमोहन का जाल', 'मैक बेथ', राजा लियर रिचर्ड' द्वितीय 'राजा हेनरी पंचम' स्न्विलीन' आदि प्रसिद्ध हैं। 'मणिमाला' नामक ग्रन्थ में आपने भवभूति के 'महावीर चरित्र' 'उत्तर रामचरित्र' और 'मालती माधव' के अनुवादों को संग्रहीत किया है। इनके साथ कालिदास के मालविकाग्निमित्र' शूद्रक के 'मृच्छकटिक' और हर्षदेव के 'नागानन्द' का सुन्दर अनुवाद 'गद्य' पद्यमय' रूप में किया। लाला जी के ये अनुवादबड़े सरल और सुन्दर हैं। स्वर्गीय शिलीमुख ने गोल्डस्मिथ के 'शीस्टूप्से टू कांकर' का अनुवाद 'ह : ह : ह :' प्रस्तुत किया। ललिताप्रसाद शुक्ल जी द्वारा 'धोखाधड़ी' प्रेमचन्द द्वारा 'हड़ताल' लक्ष्मी

नारायण मिश्र द्वारा 'गुड़िया का घर', डॉ० मंगलदेव शास्त्री का 'लेसिंग के मित्र' और 'नातन' आस्कर वाइल्ड का 'प्रेम की पराकाष्ठा' उल्लेखनीय अनुवाद हैं। कन्हैया लाल मुंशी के कई गुजराती नाटक हिन्दी में अनुवादित होकर आ चुके हैं—'दो फक्कड़', 'ध्रुवस्वामिनी देही' ब्रह्मचर्य आश्रम' 'शम्बर कन्या' आदि। रविन्द्रनाथ के कई नाटक हिन्दी में अनुवादित होकर आए हैं—'अचलायतन', 'डाकघर', 'बांसुरीवाले की यात्रा', 'कर्ण कुन्ती संवाद', 'मालिनी', 'राजरानी' आदि।

वस्तुत: आजकल के नाटक रंगमंच की दृष्टि से नहीं लिखे जाते हैं वरन् वे पाठ्यपुस्तक की सामग्री ही अधिक बन जाते हैं। आजकल उनमें न तो पात्रानुकूल भाषा का व्यवहार ही कराया जाता है, न लम्बे गायन और स्वगत भाषणों से उन्हें मुक्त ही रखा जाता है।

# हिन्दी समालोचना-प्रगति एवं प्रविधि

## पूर्वपीठिका

हिन्दी-साहित्य में आलोचना का आरम्भ भारतेन्दु-युग में हुआ था। उसका विकास द्विवेदी-युग और छायावादी युग में हुआ यद्यपि भारतेन्दु जी से पूर्व भी किसी न किसी रूप में आलोचना मिलती अवश्य है। प्रत्येक युग का साहित्य अपने युगानुकूल आलोचना का निर्माण करता है। इसी सिद्धान्त पर हिन्दी साहित्य की आलोचना का विकास भी हुआ है। आदिकाल सम्राटों के गुण-गान का समय था और भक्तिकाल ईश्वर के। भक्तिकाल में कबीर और तुलसी दास ने क्रमशः 'मसि कागद छुयो नहीं' और 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' होने का घोषणा की है। आगे तुलसी ने अपने काव्यादर्श की प्रतिष्ठा भी की है—'कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना' कहकर। यदि प्राकृत जन (राजा महाराजा) का गुण-गान, आदिकालीन परिपाटी का है तो दूसरी ओर 'कीरति भनिति भूति भलि सोई, [सुरसरिसम सब कँह हित होई' में भक्तिकाव्य का आदर्श भी प्रस्तुत किया गया है। पूर्व युग की त्रुटियों की ओर संकेत और अपने युग की स्थिति के अनुकूल आदर्श रखना ही आलोचक का कर्तव्य है। इसी से आलोचना और साहित्य आगे बढ़ता है। इसके अतिरिक्त—'सूर-सूर तुलसी ससी, उडगन केशवदास, अब के कवि खद्योत सम जँह-तँह करत प्रकास', 'तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार, उनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार', 'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया'—आदि सूक्तियाँ भी भक्ति-काल की आलोचना का एक रूप प्रस्तुत करती हैं।

रीतिकाल में आकर आलोचना के दो रूप मिलने लगते हैं। एक सैद्धान्तिक और दूसरा व्यावहारिक समीक्षा का। 'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया', 'कविकुल कल्पतरु', 'काव्यसरोज'', 'काव्य-निर्णय', आदि ग्रंथ सैद्धान्तिक समीक्षा के हैं। 'रामचरित मानस' और 'बिहारी सतसई' की अनेक टीकाएँ, कुलपति, श्रीपति, चिन्तामणि और सोमनाथ द्वारा लिखी गई वचनिका, वार्ता आदि

व्यावहारिक समीक्षा के रूप में हैं। रीतिकालीन आलोचना अलंकार और रस सम्प्रदाय से अधिक प्रभावित है। ये आलोचनाएँ अपने युग के काव्यों के अनुशीलन हेतु हुई थीं।

**प्रथम चरण**

आधुनिक युग में भारतेन्दु के आगमन से नवयुग का सूत्रपात हुआ। पाश्चात्य शिक्षा-संस्कृति के सम्पर्क से नवीन विचारों के प्रकाशन के रूप में गद्य का अविर्भाव हुआ। गद्य-साहित्य में नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि की रचना प्रारंभ हुई और उसके मूल्यांकन के लिए आलोचना को महत्व पूर्ण स्थान मिला। इस युग की आलोचना साहित्यिक पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाश में आई। इन में 'कवि-वचन-सुधा' (१८६८), 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (१८७३)' 'हिन्दी प्रदीप' (१८८१), 'आनन्द कादम्बिनी' (१८९१), 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (१८८७), आदि प्रमुख पत्रों के नाम उल्लेखनीय हैं। 'चन्द्रिका' के मुखपृष्ठ पर 'आलोचना संभूषिता' भी लिखा रहता था। यह स्पष्ट प्रमाण है कि भारतेन्दु ने ही आलोचना का प्रारंभ किया। १८७२ में 'हिन्दीकविता' शीर्षक आलोचनात्मक निबन्ध भी भारतेन्दु जी ने ही लिखा था। अन्य पत्रों में 'पुस्तक-परिचय' मात्र की आलोचनाएँ प्रकाशित होती थीं।

भारतेन्दु के बाद इस परिचयात्मक आलोचना का गम्भीर-रूप हमें बाल-कृष्ण भट्ट एवं बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' की आलोचना में मिलता है। सन् १८८५ में इन दोनों ने लाला श्री निवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना 'हिन्दी प्रदीप' और 'आनन्द कादम्बिनी' में की थी, जिसमें आलोच्य कृति की ओर संकेत करने के साथ-साथ स्वाभाविकता और गम्भीरता की रक्षा का प्रयत्न दिखाई देता है।

भारतेन्दु जी ने ही सैद्धान्तिक आलोचना का प्रारंभ अपने 'नाटक' निबन्ध से किया जिसका उद्देश्य तत्कालीन नाटककारों को श्रेष्ठ नाटक लिखने के लिए प्रेरित करना था। रीतिकालीन से प्रभावित होने के कारण इस युग की आलोचना में पाण्डित्य प्रदर्शन की झलक भी स्पष्ट दिखाई देती है। नागरी प्रचारिणी पत्रिका के प्रकाशन (सन् १८९७) से भारतेन्दु युग की आलोचना ने अनुसंधान और अनुशीलन के गम्भीर रूप को ग्रहण किया। पत्रिका में पहले

वर्ष ही पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने 'समालोचना', बाबू जगन्नाथ प्रसाद रत्नाकर ने 'समालोचनादर्श' और पं० अम्बिकादत्त व्यास ने 'गद्य-काव्य-मीमाँसा' जैसे आलोचना के गम्भीर लेख लिखे। इसके अतिरिक्त महावीर प्रसाद द्विवेदी, डा० श्यामसुन्दर दास और मिश्रबन्धु आदि के 'आलोचनात्मक' निबन्ध भी प्रकाश में आए। 'सुदर्शन' (१९००), 'सरस्वती' (१९००), 'समालोचक' (१९०२)—आदि पत्रिकाओं के माध्यम से आधुनिक आलोचना का रूप बहुत कुछ सँवारा गया।

**द्वितीय चरण**

सरस्वती-संपादक के रूप में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने आलोचना को एक नई दिशा प्रदान की। सन् १९०४ से पत्रिका में 'पुस्तक-परिचय' स्तम्भ निकलने लगा, इसमें पुस्तकों की आलोचना प्रणाली अपनाई गई। हिन्दी-साहित्य की तत्कालीन स्थिति से सम्बन्धित कुछ व्यंग्य-चित्र भी आलोचना में सहायक हुए। अपनी आलोचना में द्विवेदी जी ने भारतीय रस-सिद्धान्त को अधिक महत्व दिया पर नवीनता को भी उन्होंने सदा सराहा।

उनकी आलोचना गुण-दोष तक सीमित थी। उन्होंने भाषा के व्यवस्थित तथा व्याकरण-सम्मत होने के पक्ष पर अधिक बल देकर उच्चकोटि की साहित्यिक समालोचना का सूत्रपात किया।

द्विवेदी-युग में ही मिश्रबन्धु कृत 'मिश्रबन्धु विनोद' और 'हिन्दी नवरत्न' द्वारा प्रथम बार ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक आलोचना का रूप प्रस्तुत हुआ। 'नवरत्न' में पहले कवियों का श्रेणी-विभाजन हुआ और 'विनोद' में विस्तार से कवियों और उनकी काव्य-कृतियों का काल-विभाजन करके विश्लेषण किया गया। यों तो 'नवरत्न' के श्रेणी विभाजन से तुलनात्मक आलोचना का आभास मिलने लगता है परन्तु उसको व्यवस्थित रूप पं० पद्मसिंह शर्मा मे दिया। सन् १९०७ की 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित शर्मा जी के 'बिहारी और फारसी कवि' 'शेखशादी की तुलनात्मक आलोचना' शीर्षक लेख से तुलनात्मक आलोचना का आरंभ माना जाता है। मिश्रबन्धुओं ने अपने 'नवरत्न' में देव कवि को 'बिहारी' से बड़ा सिद्ध किया तब शर्मा जी ने 'आर्यासप्तशती' 'गाथा सप्तशती', 'अमरुकशतक' आदि संस्कृत-प्राकृत के ग्रंथों तथा हिन्दी-फारसी के अन्य कवियों से 'बिहारी सतसई' की तुलना करके बिहारी को शृंगार रस का सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध किया। इस विद्वत्तापूर्ण आलोचना ने

रीतिकालीन कविता के मूल्यांकन का नया द्वार खोल दिया और विभिन्न कवियों की रचनाओं में प्रयुक्त किए गए भाव और भाषा की सूक्ष्मता से छान-बीन करने की प्रवृत्ति को बल मिल गया। देव और बिहारी का साहित्यिक विवाद बढ़ा और साहित्य में कुछ सजीवता आई। परिणामस्वरूप स्व० पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' पुस्तक द्वारा फिर देव को बढ़ा दिया और लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' पुस्तक लिखकर इसका प्रतिवाद किया। इससे आलोचना की दिशा में रचनाकौशल और शक्ति-चमत्कार का बोध अवश्य हुआ।

'समय पलट, पलटे प्रकृति'—के अनुसार सन् १९२०-२१ के लगभग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना-क्षेत्र में प्रवेश किया। नए आदर्श के के साथ शुक्ल जी ने प्रथम बार कवि विशेष के प्रादुर्भाव-काल की सामयिक परिस्थितियों, उसके पूर्व युग की साहित्यक प्रवृत्तियों और स्वयं उसकी निजी आन्तरिक मनोवृत्तियों के प्रकाश में उसकी काव्य-कृतियों की आलोचना प्रारम्भ की। वे तुलसी के काव्यादर्शों से प्रभावित थे और इसीलिए उनके मर्यादावाद को अधिक महत्व दिया। इसी दृष्टि से उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र के आधार पर उनकी रचनाओं की समीक्षा की और व्यावहारिक आलोचना का नया रूप प्रस्तुत किया। १९३० में प्रकाशित उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' उनकी आलोचना का विकसित रूप प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक आलोचना की वैज्ञानिक प्रणाली के कारण ही आज भी शुक्ल जी का इतिहास अन्यतम बना हुआ है। उनकी व्याख्यात्मक आलोचना-प्रणाली पर ही आज हिन्दी-आलोचना का प्रसाद खड़ा है। आचार्य शुक्ल जी के साथ ही डा० श्यामसुन्दरदास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने सैद्धान्तिक आलोचना को प्रौढ़ता प्रदान की। 'दास' जी का 'साहित्यालोचन' ग्रंथ यद्यपि अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचकों 'हडसन' (Hudson) और 'वर्सफोर्ड' (Worsford) के ग्रंथों पर आधारित अंग्रेजी आलोचना-शास्त्र का साहित्यिक हिन्दीकरण है, फिर भी आज उसकी आलोचना-क्षेत्र में महत्ता है। उनके शुद्ध, स्पष्ट और परिमार्जित शैली में लिखे गये 'रूपक-रहस्य', 'भारतीय नाट्यशास्त्र', 'भाषा-रहस्य' और 'हिन्दी भाषा और साहित्य' ग्रंथों से ही उच्च कक्षाओं में पठन-पाठन का स्तर रक्षित हो सका। 'बख्शी' जी ने 'विश्व साहित्य'—नामक ग्रंथ द्वारा यूरोपीय साहित्य के सौंदर्य का उद्घाटन पाश्चात्य सिद्धान्तों पर करके इस कार्य को आगे बढ़ाया।

**तृतीय चरण**

आचार्य शुक्ल के पश्चात् प्रतिभाशाली आलोचकों ने नवीन साहित्यिक चेतना के अनुसार आलोचना को पूर्णता दी। इन आलोचकों में आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र और डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम महत्वपूर्ण है। आचार्य वाजपेयी कृत 'कहाकवि सूरदास', 'जयशंकर प्रसाद, हिन्दी साहित्य', बीसवीं शताब्दी', 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', 'नया साहित्य : नये प्रश्न' आदि कई महत्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं, जिनसे उनकी आलोचना-सम्बन्धी मान्यताओं और उपलब्धियों का परिचय मिल जाता है। वे कलाकार की मौलिकता और उसकी युग के अनुकूल ललित भाव धारा को महत्व देते हैं। साथ ही कवि या काव्य-प्रवृत्ति के अध्ययन में समाजशास्त्र, दर्शन, साहित्यशास्त्र कवि के अन्तर्मन और उसकी परिस्थिति का समन्वय करके तुलना और विवेचन द्वारा सूक्ष्मता के साथ आलोचना करते हैं।

डा० नगेन्द्र ने आलोचना के क्षेत्र में छायावाद के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण और सौंदर्य-शास्त्र के सिद्धान्त को लेकर प्रवेश किया। उनकी प्रथम आलोचना कृति शब्द शिल्पी सुमित्रानन्दन पंत पर थी। इसके पश्चात् मैथिली शरण गुप्त की प्रतिनिधि रचना 'साकेत' पर इनकी सरस आलोचना आई। रीति-काव्य के गम्भीर अध्ययन के फलस्वरूप वे भारतीय काव्य-शास्त्र की ओर उन्मुख हुए और उनका पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया। आज हिन्दी में वे आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्थापित समन्वयशील आलोचना प्रणाली के सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं। उनकी आलोचनात्मक शैला सूत्रात्मक, गम्भीर, स्वच्छ एवं विचारोत्तेजक है, जिसे वे अपने 'विचार और विश्लेषण' 'काव्यचिन्तन' आदि निबन्धसंग्रहों और 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा' जैसे अन्य संस्कृत-ग्रंथों के सम्पादक और अनूदित ग्रंथों के भूमिका लेखक के नाम के नाते स्पष्ट कर रहे हैं।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', 'विचार और वितर्क', 'साहित्य का साथी', 'कल्पलता', 'अशोक के फूल', आदि ग्रंथों में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि को अपनाया है। लोक-जीवन में अटूट आस्था होने के कारण उनकी आलोचना में व्यापकता और गहराई दिखाई देती है। समाज शास्त्राय और उदारवादी दृष्टिकोण के साथ-साथ बीच-बीच में पाँडित्य, भावुकता और व्यंग्य-विनोद का पुट भी मिलता है।

उपर्युक्त आलोचकों के अतिरिक्त साहित्यिक समीक्षा को पूर्णता की सीमा पर पहुँचाने में अन्य अनेक आलोचकों ने अपना योगदान दिया उनमें डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, डा० गुलाबराय, पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, पं० रामकृष्ण 'शिलीमुख', डा० सत्येन्द्र, डा० भगीरथ मिश्र, परशुराम चतुर्वेदी, डा० श्रीकृष्णलाल, डा० वार्ष्णेय आदि प्रमुख हैं। डा० बड़थ्वाल ने 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' नामक शोध-ग्रंथ द्वारा सन्त-काव्य की मार्मिक व्याख्या की डा० गुलाबराय समन्वयवादी आलोचक थे। 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' में उनका समन्वय खूब निखरा है। शान्तिप्रिय द्विवेदी ने 'सामयिकी', 'संचारिणी', और 'ज्योति विहग'—नामक कृतियों में सर्व प्रथम छायावादी काव्य की सहानुभूतिपूर्ण आलोचना करके उसके सौंदर्य पक्ष को निखार प्रदान किया। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'भूषण', 'बिहारी 'घनानन्द', 'पद्माकर'—आदि अनेक ग्रंथों का संपादन-संशोधन किया है, जो उन्हें रीतिकालीन काव्य-साहित्य और शास्त्रीय आलोचना का श्रेष्ठ विद्वान् घोषित करता है। डा० सत्येन्द्र लोक-साहित्य की ओर उन्मुख हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और परशुराम चतुर्वेदी ने सन्त काव्यानुसन्धान का पथ प्रशस्त किया है। डा० श्रीकृष्ण लाल और डा० वार्ष्णेय ने सन् १८०० से लेकर आज तक के हिन्दी भाषा और साहित्य पर प्रामाणिक कार्य किया है। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास' आलोचना साहित्य की अपूर्व निधि कहा जा सकता है।

इस साहित्यिक आलोचना, के अतिरिक्त आलोचना के कुछ और रूप भी माने जाते है, जिनमें मार्क्सवादी आलोचना मनोविश्लेषणात्मक आलोचना, प्रभाववादी आलोचना, चरित्र मूलक आलोचना, सैद्धान्तिक आलोचना और शोधात्मक आलोचना का महत्वपूर्ण स्थान है। मार्क्सवादी आलोचना प्रणाली १९२६ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के साथ आई। सामयिक राजनीति इस आलोचना का नियमन करती है। इस विचारधारा के आलोचकों में शिवदान सिंह चौहान, डा० रामबिलास शर्मा, डा० प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० भगवत शरण उपाध्याय, अमृतराय, डा० राँगेयराघव और यशपाल आदि प्रमुख कहे जा सकते हैं। इस आलोचनात्मक प्रणाली से यथार्थ की ओर विशेष ध्यान आकर्षित हुआ। मनोविश्लेषणात्मक आलोचना के क्षेत्र में 'अज्ञेय' और

इलाचन्द्र जोशी अधिक प्रसिद्ध हैं। प्रभाववादी आलोचना में आलोचक आलोच्य ग्रंथ द्वारा अपने पर पड़े प्रभाव को व्यक्त करता है। इस दिशा में डा० भगवतशरण उपाध्याय और शाँतिप्रिय द्विवेदी प्रमुख हैं। चरितमूलक आलोचना के दो प्रमुख ग्रंथ कहे जा सकते हैं—गंगाप्रसाद पांडेय का 'महाप्राण निराला' और डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' का 'वृन्दावनलाल वर्मा—व्यक्तित्व और कृतित्व'। सैद्धान्तिक आलोचना के दो रूप मिलते हैं। एक वह जो प्राचीन काव्य-शास्त्रीय आधार पर विकसित सैद्धान्तिक आलोचना का है, जिसमें पोद्दार कृत 'काव्य कल्पद्रुम', गुलाबराय कृत 'नवरस', भानुकृत 'काव्य प्रभाकर', रसाल कृत 'अलंकार पीयूष', लाला भगवानदीन कृत 'अलंकार-मंजूषा', अर्जुनदास केडिया कृत 'भारतभूषण', हरिऔध कृत 'रसकलश' और रामदहिन मिश्र कृत 'काव्यालोक' प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। दूसरे वे जो अनुवादित हैं जिनमें साहित्यदर्पण, रसगंगाधर, ध्वन्यालोक, वक्रोक्तिजीवितम्, भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, आदि प्रमुख हैं। शोधात्मक आलोचना की दिशा में आज बड़ी धूम है। सैकड़ों व्यक्ति शोध-कार्य में संलग्न हैं। यह परम्परा द्रुत गति से आगे बढ़ रही है, जिसके मुख्य विषय—भाषा और भाषाविज्ञान, हिन्दीसाहित्य का इतिहास, हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि और परम्परा, विशेष धारा या प्रवृत्ति, विशेष कवि, लेखक या विशिष्ट कृति का अध्ययन सम्प्रदाय और तत्सम्बन्धी कविसमुदाय और साहित्य काव्य-शास्त्र, महाकाव्य, नाटक आदि काव्य-रूपों का अध्ययन आदि हैं। शोध का अर्थ नवीन तथ्यों का अनुसन्धान और उपलब्ध सामग्री की व्याख्या से है। आज आलोचना की धारा बहुमुखी होकर विकसित हो रही है। हिन्दी समालोचना की प्रगति एवं प्रविधि उसके उज्जवल भविष्य की सूचक है।

# साहित्य निर्माण में जन साधना का योग

साहित्य सामाजिक संघर्षों का प्रतिबिम्ब है। महावीर प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार ज्ञान राशि के संचित कोष का नाम साहित्य है। साहित्य के अन्तर्गत हमारा वाङ्मय, कविता, नाटक, उपन्यास, निबन्ध, समालोचना, कहानी, इतिहास आ जाता है। वस्तुतः साहित्य का जगत् मानवता और कल्पना का जगत् है। समष्टि रूप में साहित्य मानवता का दर्पण है। वह आत्म एवं अनात्म के साथ रहता है हमारी विभिन्न रूचियों को तृप्त करने में समर्थ होता है और अपने समय की जनता का सामाजिक प्रतिबिम्ब दिखाने में आदर्श का काम देता है। साहित्य जनता के सहयोग से बनी संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट सार-भार है। जनता के सहयोगी स्वर साहित्य में आत्मैक्य की अनुभूति हृदय की अभिव्यक्ति को लेकर ही लिपिबद्ध किए जाते हैं। साहित्य के सृष्टा की लेखनी में वह मुद्रणालय है जहाँ जड़ और चेतन मुद्रित हो समाज एवं अनन्त के समक्ष आते हैं। जहाँ व्यष्टि और समष्टि का समन्वय होता है, जहाँ साहित्य और समाज का सहयोगी अन्तर और समंजस्य निखरता है जहाँ जनता की कसौटी पर उसकी परख होती है। साहित्यकार वहीं जनता की अन्तर्प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण करता है।

जनता का सहयोग विचारों के माध्यम से साहित्य के बीच आता है। साहित्य सागर की तरह अथाह है, सत्य की तरह अनश्वर है, रहस्य की तरह ब्रह्म है 'सत्यं शिव सुन्दरम्' का त्रिवेणी संगम यदि कहीं दिखाई देता है तो वह साहित्य में ही। साहित्य वह अक्षय कोष है जिसमें दर्शन भी है और विज्ञान भी जिसमें राजनीति भी है और प्रगति भी जिसमें इतिहास भी हैं और समाज भी जिसमें सृष्टा भा है और सृष्टि भी जिसमें निवृत्ति भी है और प्रकृति भी, जिसमें जनता की सर्जना शक्ति भी है और मानव का आर्थिक चीत्कार भी यदि यह कहा जाय कि जनसाधना का योग ही साहित्य की गति गरिमा तथा

प्राण है तो अत्युक्ति न होगी। जनता का स्वर ही साहित्य है। जनता का सहयोग साहित्य की जाग्रति है, साहित्य सृष्टा का प्रकाश स्तंभ है।

साहित्यकार दृश्य और अदृश्य में आत्मैक्य की अनुभूति को अंकित करता है। आत्मैक्य में ही सत्य है। सत्य में वैभिन्नता नहीं होती। सत्य में तादात्म्य होने पर ही व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि दिखाई देती है। जनता की साधना परिवर्तनशील है, वह गिरगिट की भांति रंग बदलती है, दुःखों की अग्नि में दहकती है और इसका अकंन करता है साहित्य का निर्माता। वह प्राणी-प्राणी का हृदय झाँकता है, स्नेह और शाँति की अनुभूतियों से उनका मार्ग प्रशस्त करता है। साहित्य के निर्माण में जनता की स्वर लहरी दीपित ज्योंति में दमकती हुई दृश्यावली है, जिसका दीपक है रचनाकर। जनता का योग ही साहित्य की कृषि के लिए वर्षा है, खाद है जिससे फल और फूल फैलते हैं।

साहित्य और जनता का सम्बन्ध जल और जल की लहरी जैसा है, जो अलग दिखाई देने पर भी उसी में मिली रहती हैं। इसी सागर में समस्त रत्न अपनी अपनी प्रभा से झिलमिलाते हैं। जनता की परिस्थिति के अनुकूल लिखी गई रचनाएँ ही अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती हैं, अन्यथा उनकी स्थिति वही होती जैसी हवा से भरे हुए गुब्बारे की। व्यक्ति और राष्ट्रीय जीवन से अलग शून्य में साहित्य निर्माण संभव नहीं। जनता की परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना वह रह ही नहीं सकता, क्योंकि साहित्यकार स्वयं भी तो जगत् का एक अंग है। जनता की क्रियाओं की प्रतिक्रिया का होना साहित्यकार पर स्वाभाविक है। अनिवार्य है।

आज कोरा आडम्बर टिकाऊ नहीं है। अपने देश वासियों की परिस्थितियों को देखकर जनता के सुख दुःख की सबके गहरी और व्यापक प्रतिक्रिया साहित्यकार पर ही होती है। उसका यह धर्म है कि वह अपने देश की जनता की परिस्थितियों का निर्भीक चित्रण साहित्य के माध्यम से करे। मौज का राग अलापना आज की जनता की माँग नहीं वह युगों पीछे छूट गई जनता के समस्त वर्गों के आर्थिक साम्यवाद की उपलब्धि का सहयोग का कलात्मक ढर्रा साहित्य हा है जो जीवन के समस्त क्रान्तिकारी आदर्शों का सामूहिक अंगीकरण करता है। साहित्य सामाजिक श्रम शक्तियों के विकेन्द्रीकरण का नही वरन् एक संपूर्ण कल्याणकारी जनता के समस्त हितों की रक्षा करने वाले सौन्दर्य और कला की

समस्त उपलब्धियों का प्रत्येक वर्ग प्रत्येक श्रेणी के लिए एक सी आनन्ददायक मानने वाली जीवन योजना का सांस्कृतिक आन्दोलन है । सांस्कृतिक, नैतिक और बौद्धिक प्रचार का दायित्व साहित्य और जनता दोनों पर है । जनता की साँस्कृतिक और औद्योगिक उन्नति के लिए साहित्य को सामाजिक एकता की नींव डालनी होगी और इसके लिए क्रान्ति की ज्वाला संगठित करनी होगी । जनता के सहयोग से वंचित साहित्य सदैव थोड़े से श्रमचोरों के आनन्द विलास की या प्रसिद्ध उपन्यासकार शरतचन्द्र के अधिकांश निकम्में पुश्तैनी सम्पत्ति के बल पर रोमान्स करने वाले और ईमानदार श्रम की भावना से सर्वथा अनभिज्ञ नायकों की तरह कामचोर पुरखों की भाँति मुनाफा खोरों के समय काटने का साधन बनता है । जन सहयोग की साधना ही साहित्य है । सच्चे साहित्य का निर्माण तभी संभव है जब जनता और उसकी परिस्थितियों या वातावरण के पारस्परिक सहयोग का व्यक्तीकरण हो ।

जन समाज की उन्नति भी तभी संभव है जब समाज के अन्तर्भूत व्यक्तियों का साहित्यकार से सहयोग और साहचर्य हो । इस सहयोग और साहचर्य का साफल्य तभी संभव है जब परस्पर विचारों के विनियम का साधन उपस्थित हो । भाषा इसका मूल साधन है । साहित्य निर्माता ही देश और समाज की पुकार को आवश्यकताओं के अनुसार निर्मित करता है । जन जीवन ही साहित्य का आधार है । जब वह इससे अलग हो जाता है तभी उसका पतन आरंभ हो जाता है । हिन्दी की अखण्ड काव्यधारा जन जीवन के स्रोत से ही फूटकर निकली थी । तुलसी, सूर मीरा और कबीर की पदावली देश की जनता के प्रतिनिधि भावों से ही प्रेरित हुई थी जिससे बाद में देश का मूक जीवन अनायास ही मुखरित हो उठा था । जनता का सम्बल था सच्चा साहित्यकार जो पशुओं में, ईंट पत्थरों में, पेड़ पौधों में भी विश्व की आत्मा का दर्शन करा देता है । वह विश्व की आत्मा का दर्शन करा देना है । वह विश्व की आत्मा से ऐसी हारमोनी प्राप्त कर लेता है । कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालुम पड़ें । जनता का प्रिय साहित्यकार कभी पुराना नहीं होता वह सदा नया और ताज़ा बना रहता है । वह जन जन के गले का कण्ठहार हो जाता है और उसका साहित्य जनता के लिए सच्चा इतिहास ।

उपर्युक्त तथ्यों का यह अभिप्राय कभी नहीं कि साहित्य निर्माता सदैव जनता के सहयोग पर ही निर्भर रहे । उसका कर्त्तव्य उस डाक्टर की भाँति

है जो तीखी दवा होते हुए भी उसका उपयोग रोगी को करने के लिए विवश करता है। उस समय दवा उसे तीखी अवश्य प्रतीत होगी परन्तु उसका परिणाम बाद में निश्चित होता है। प्रारंभ में जनता की अशांति के कारण तुलसी को संस्कृत में रामायण न लिखने के लिए अनेक प्रकार की याचनाएँ दी गयीं। राम का यथार्थरूप जनता के लिए तीखा था, उसमें युग नायक की शक्ति थी वह कल्पना phatasm of delight नहीं थी वरन् एक तीखी दवा थी जिसे पीकर जनता की नसें सीधी तो अवश्य हुईं परन्तु यथार्थ के कारण वह उसे असत्य प्रतीत हुई। आज का साहित्य वैयक्तिक है उसमें लोकरंजन की भावना सन्निहित है। आज का साहित्य निर्माता जो अपने प्रति समाज से प्रति ही ईमानदार है।—उसे जनता की वास्तविका के प्रति जो सहज विश्वास एवं उसकी कारुणिक दशा के प्रति जो सहानुभूति है वह सहानुभूति अपने आप रोकने पर भी उमड़ पड़ती है। दिनकर की यही भावना भारत की जनता की दशा को देखकर अन्य रागात्मिकता प्रवृत्तियों को भूल अपनी दशा प्रकट करती है—

कलम उठी कविता लिखने को,
अन्तस्तल से ज्वार उठा रे।
सहसा नाम पड़ा कायर का
दक्षिण पवन पुकार उठा रे।
देखा शाँत कुँवरगढ़ है,
झांसी की वह शान नहीं है,
दुर्गादास प्रताप बली का,
प्यारा राजस्थान नहीं है।

इस प्रकार के साहित्य से लेखकों का सम्बन्ध जनता की स्वीकृति से है। वे जनता के हृदय की गहरी वेदना के साथ तादात्म्य पाने की चिन्ता नहीं करते। बहुत सा ऐसा साहित्य भी है जो जन-साधारण के दृष्टि कोण से ठीक खरा नहीं उतरता परन्तु वह पूर्णरूपेण अनुपयोगी है यह नहीं कहा जा सकता। आज के साहित्यकार का कर्म इतना महान् है कि वह अपने को भारतीयता के या किसी क्षेत्र में बाँधकर क्यों रखे, उसका दृष्टिकोण तो व्यापक होना ही चाहिए। एक मानवता का साहित्य निर्माता अपने राष्ट्र और अपनी जाति का ही केवल हित नहीं सोचता वह समस्त राष्ट्र और अखिल मानवता का

शुभचिन्तक होता है, उसका साहित्य उस सुर-सरिता की भाँति है जिसमें अवगाहन कर समस्त मानवता की तृप्ति होती है। केवल प्रासादों का ही गुणगान साहित्य को पूर्ण नहीं कर सकता, उसे समाज के संपूर्ण वर्ग पर प्रकाश डालता है। इसीलिए विद्वानों ने कहा भी है –"Let the literature banker after cottages think over the minutest of life. The literature which thinks of our fascination, builds his basis on no views is no literature."

अब धूलि सुरभि तथा झंझा आदि का रूप क्रन्दन विप्लव और दीन दुखियों की आहों ने ग्रहण कर लिया है। यथार्थ की अमिट छाप आज के साहित्य पर पड़ रही है। कवि अपनी लेखनी द्वारा जनता के भावों को व्यक्त कर उन्हें सजीव तथा शक्तिशाली बनाता है। कवि की बनाई हुई सामाजिक भावों की मूर्ति समाज की नेत्री बन जाती है। इस प्रकार कवि और लेखकगण जनता के उन्नायक और इतिहास के विधायक अवश्य होते हैं, किन्तु उनकी भाषा में हमको समाज के भावों की झलक मिलती रहती है। यदि समाज अवगुणों का आगार है, तो जीवन के प्रतिबिम्ब साहित्य में भी अवगुणों की ही झलक होगी। साहित्य भी समाज की दुःखपूर्ण भावनाओं से परिपूर्ण होगा। विशृंखलता के साम्राज्य में साहित्य जनता के कल्याण के लिए शक्ति, जीवन आशा और उन्नति का संदेश देता है। व्यक्ति का जाति का, जनता और राष्ट्र का निर्माण करने का श्रेय साहित्य को ही है। महान् कलाकार अपनी रचनाओं में जन कल्याण एवं सत्य के संदेश भी रखते हैं। राष्ट्रकवि डा० मैथिलाशरण गुप्त ने कहा भी था—

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए ॥
किन्तु उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए ॥

निश्चय ही यह उपदेश सरस होना चाहिए। साहित्य में तलवार से भी अधिक शक्ति है। भूषण ने अपनी ओजस्वी वीर रसात्मक कविताओं के द्वारा मृतक जनता (मरहठे) में वीरता का संचार किया था। मैजिनी के साहित्य ने इटली के राष्ट्रीय जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन करके अपनी अतुल शक्ति का परिचय दिया है। रूस के साम्यवादी विचारों ने वहाँ के राज विप्लव का जन्म दिया। फ्रांस की राज्यक्रान्ति वाल्टेयर और रूसो का ही फल है। गत महासमर का उत्तरदायित्व जित्शे आदि दार्शनिकों के विचारों को ही है। यदि

साहित्य न होता तो जन जीवन के विचार क्षणिक और अस्थायी होते। वस्तुतः यह बात सत्य है कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति, का संचित प्रतिबिम्ब होता है। देश के वृत्तान्त का निदर्शन होता है। 'भारत भारती' में भारत के प्राचीन गौरव का गुणगान करते हुए वर्तमान दयनीय अवस्था पर क्षोभ प्रकट किया गया है—

हम कौन थे, क्या हो गए, और क्या होंगे अभी,
आओ ! आज विचारें मिलकर यह समस्याएँ सभी।

इसी प्रकार पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की वाणी में भी जनता की हुँकार सुनाई दी—

कवि कुछ ऐसी तान सुना दो,
जिससे उथल पुथल मच जाये।

किसान, मजदूर और ग्रामीणों के प्रति शोपकवर्ग (पूंजीवादी) के अत्याचारी स्वर जनता के सहयोग से ही कवियों द्वारा भास्वर होते हैं। 'ग्राम्या' में इसीलिए युगमनु पं० सुमित्रानन्दन पंत जी ने लिखा भी है—

युग युग यह भारवाह, आ कटि नत मस्तक।
विश्व विवर्तनशील, अपरिवर्तित यह निश्चल।।
वही खेत गृह द्वार वही, कृषि, हँसिया और हल।
वही संकीर्ण, समूह कृपण, स्वाश्रित पर पीड़ित।।

ग्रामीण जनता की हीन दशा को चित्रित करने वाली श्री भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी'—शीर्षक कविता प्रसिद्ध ही है—

उस ओर क्षितिज के आगे, कुछ पाँच कोस की दूरी पर।
भू की छाती पर फोड़े से, हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर।
पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ, नारियाँ जन रही हैं गुलाम।
पैदा होना फिर मर जाना, यह उन लोगों का एक काम।

इसमें कवि ने शोपक वर्ग के प्रति तीव्र आक्रोश एवं शोषित वर्ग के प्रति अन्तर की करुणा व्यक्त की है। कवि की अन्तर्भेदिनी दृष्टि जीवन के बहिरंग में दिखाई देनेवाली मधुरता और सुन्दरता को देखती है साथ ही अन्तरंग में निहित कटुता और कुरूपता को भी देखती है जिससे कवि के मन में तीव्र रोप उत्पन्न होता है और वह इस वैषम्य में आग लगा देना चाहता है। वह

देखता है कि संसार में एक ओर थल पर मोटरें, बसें, ट्रामें, जल में जहाज और नभ में वायुयान चलते हैं और दूसरी ओर निर्जन कलुषता एवं कुरूपता के वैभव ग्रामों में शताब्दियों की जड़ता और स्थिरता और हँफती, काँपती, हिलती-डुलती रुक-रुक कर सिहरती हुई चरमर-चरमर चूँ चरर-मरर करती हुई शोषण का प्रतीक भैंसागाड़ी चली जा रही है। शोषितों की उस दशा को कवि के शब्दों में देखिए—

> वे क्षुधाग्रस्त बिलबिला रहे, मानों मोरी के कीड़े।
> वे निपट घिनौने महापतित, बौने कुरूप टेढ़े मेढ़े ।।

इसी दारिद्रय के कारण धन कुबेरों के अमानुषिक कार्यों का भी निरावरण किया गया है—

> है बीस कोस पर एक नगर, उस एक नगर में एक हाट,
> जिसमें मानवता की दानवता फैलाये है निज राज पाट।
> साहूकारों के पर्दे में हैं जहाँ चोर और गिरह काट,
> है अभिशापों से भरा जहाँ, पशुता का व्यापक ठाठ-बाट ।।

कृषक और श्रमिकों के रक्त स्वेद पर आश्रित पूँजीवादी साम्राज्यवाद के वैभव पूर्ण प्रसादों को देखकर कवि 'अंचल' का हृदय घोर घृणा से भर जाता है और कवि आवेशपूर्ण वाणी में कह उठता है—

> उन्हीं मिलों की सगी बहिन-सी खड़ी राक्षसी यह पाषाणी,
> व्यभिचारों की कुत्सा-सी यह शोषण की अविराम कहानी।

कृषक जनता की भावधाराओं की मार्मिक व्यंजना करते हुए करुण कवि ने लिखा है—

> करि श्रम तीसों दिन मरत, भरत न भूखो पेट।
> कहो कहाँ ते लाइये पटवारी ! तव भेंट ?
> सुनियत कूकुर आपके दूध-जलेबी खाहिं,
> हम सब कृषक-मजूर हा। कूकुरहू सम नाहिं।
> फटी पुरानी गूदड़ी, फूटे बासन तीन,
> सो कुरकी करि लै चले साहब कुरक अमीन।
> देखि किसानन के दुखहिं करत न कोई कृत्य।
> स्वान-सँभारन-हेतु पै, राखहिं गोरेभृत्य।

ब्याज बहीखाता-कथा, किमि जानैं हम हायं ?
कब को बाकी काढ़ि धौं, भैंस लई चुकताय।
खैंचि रह्यो अंत न लह्यो, कृषक दुःशासन बीर।
बाढ़त जाली ब्याज, ज्यों पाँचाली को चीर।
उत पूँजीपति निर्दयी, इत ब्यौहार बदकार,
चूसत हीन अधीन लखि, दीन कृषक श्रमकार।

जनता के मन के भावों को व्यक्त करने एवं जन मन को प्रभावित करने के लिए कवि ने काव्य रूपों में परिवर्तन को आवश्यक समझा। इसी भाव धारा से प्रभावित होकर एक स्थान पर सोलीवैनोस्की ने लिखा है कि समाजवाद का कवि होने के लिए न केवल समाजवाद के सिद्धान्तों में विश्वास आवश्यक है, प्रत्युत काव्य की शैली में भी परिवर्तन आवश्यक है। संसार के प्रति कवि को अपना दृष्टिकोण ही परिवर्तित कर देना चाहिए।[१] कविवर पंत ने जन-जन के भावों को उनकी विचारधारा को नवीन शैली में व्यक्त कर देने के लिए कहा ही है—

कवि नवयुग की चुन भाव-राशि,
नव छंद आभरण रस-विधान।
तुम बन न सकोगे जन-मन के,
जाग्रत भावों के गीत यान।

साहित्य समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है। सच्चा साहित्य वही है जो व्यक्ति को संस्कारों से, समाज को व्यक्तियों से और राष्ट्र को अर्थ दास्य से मुक्त करता चले, जो किसान, मजदूर, दलित वर्ग के दुःख सुख को वाणी दे सके! इसी भावना से प्रभावित होकर गोर्की ने कहा था—'मेरे विचार से मनुष्य से परे कोई भी शक्ति नहीं है, मानव सब वस्तुओं एवं विचारों का स्वयं सृष्टा है, वह चमत्कारकर्त्ता है और प्रकृति

---

१. To become an artist of Socialism means, if you come from intellegentia, that not only must be convinced that the ideas of Socialism are correct, but that you must after your previously formed style: you must change your way of looking at the world. —Solivenosyk.

की समस्त शक्तियों का स्वामी भी ।[१] कवियों ने मानवता को सर्वोच्च स्थान दिया और कहा—

देश काल और स्थिति से ऊपर,
मानवता को करो प्रतिष्ठित ।

—पंत

जनता के सहयोग को पाकर ही पंत जी ने कहा था वसुन्धरा का वास्तविक प्रतिनिधि मानव ही है और वह मानव जिसका हृदय चिर ममत्व की मधुर ज्योति से प्रकाशित है—

जीवों की यह धात्री इसकी मिट्टी का उनका तन,
इस संस्कृत रज का ही प्रतिनिधि हो सकता मानवपन ।
जीव जनित जो सहज भावना संस्कृति उससे निर्मित,
चिर ममत्व की मधुर ज्योति जिससे मानव उर ज्योतित ।

फुटपाथ पर सोने वाले, मजदूरों-किसानों आदि की दरिद्रता का अंकन वाणी में अंकित कर कवियों ने यथार्थता का दिग्दर्शन कराया है—

आप चाहें, या न चाहें
दीख पड़ते हैं पड़े फुटपाथ पर
मैदान में सब ओर
चारों ओर सोये, लुढ़कते, गुड़मुड़ हुए
ढाँचे
निरे बस हड्डियों के ।
भूँख से व्याकुल तड़पते बालकों का दीन कैं-कैं स्वर
बिना खाये
या कि खाकर रोग से
मरते हुए नर नारियों की रुद्ध-सी चीत्कार ।

सम्पूर्ण शोषित मानवता को अपने साहित्य का आलम्बन साहित्यकारों ने बनाया है जो उनकी जन-कल्याण भावना का परिचायक ही कहा जायेगी ।

---

१. For me there are no ideas beyond man; for me man is the creator of all things and all ideas, he is miracle worker and the future master of all the forces of nature.

—Literature and Life—Page 56.

साहित्यकार की कलावाणी में जनता के सहयोगी स्पन्दन चित्रों की छाया का स्पष्ट धूमिल आभास सदैव मिलता रहता है। जन जीवन में व्यापक दुःख वेदना, सुख आनन्द, भूख महामारी, रोग पीडा, अज्ञान अशिक्षा के अनुभव से साहित्यकार के अन्तर में जो आलोड़न, उद्वेलन जो स्फुरण स्पन्दन होते हैं, उसे सच्चाई के साथ प्रकट करना साहित्यकार का प्रथम कर्त्तव्य है ही, साथ ही उसका यह भी कर्त्तव्य है कि जीवन के क्षणिक यथार्थ को घूरने में वह इतना बेहोश न हो जाय कि जीवन का चिरन्तन सत्य तिरस्कृत अवहेलित ही पड़ा रह जाय !

निष्कर्ष रूप में हम यही कहेंगे कि जब जीवन और जगत् के प्रति खण्डों में विभक्त दृष्टि नहीं, युग कुण्ठाग्रस्त साक्षेप दृष्टि नहीं वरन् मानव की शाश्वतिक मंगल विधायक चिरन्तन भावमूर्ति की प्रतिष्ठा का संस्थान साहित्य निर्माता को होना चाहिए। साहित्य निर्माता उस जन-जीवन सरिता की सप्राण, जीवन्त, मंजुल लहरियों को और भंगिमामय तरंगों को संकलित करता रहता है, जिनमें जनता के सहयोगी जीवन के पीयूष-गरल दोनों का संगम हुआ करता है। साहित्य निर्माण में जन साधना का योग यही सार्वभौम है, जो जीवन के कंटकाकीर्ण, तमसाच्छन्न विषम पथ में दीपशिखा का प्रकाश प्रदान करता है।

# लोक-साहित्य में सामाजिक जीवन के तत्त्व

लोक साहित्य जन साहित्य के बीच या जन समाज के बीच प्रवाहमान साहित्य है। सामान्यतय: इस साहित्य के रचना काल और रचयिता का पता नहीं रहता फिर भी वह शताब्दियों से जन कण्ठों से मुखरित होता हुआ अपनी परम्परा में आगे बढ़ता रहता है। गीति काव्य की उत्पत्ति वास्तव में लोक गीतों के रूप में हुई थी। साहित्यिक गीत उसी का विकसित रूप है। इस साहित्य की शिक्षा के लिए कोई शालाएँ नहीं हैं। काम काज से छुट्टी पाकर ग्रामीण वयोवृद्ध ग्राम के बागों की घनी शीतल सुहावनी छाया में, नीम के नीचे बैठकर या अलाव के पास अथवा चौपाल में बालकों और नवयुवकों के मनोरंजन, बुद्धि परीक्षा अथवा ज्ञानवर्धन के लिए इस मौखिक साहित्य का भण्डार खोलते हैं। इसी प्रकार वयोवृद्ध एवं नवयुवतियाँ, गीतों, कलाओं, पहेलियों, सूक्तियों के रूप में इसे प्रचलित करती हैं। यह श्रुत साहित्य है जिसे सुनकर ही ग्रहण किया जाता है। लोक गीतों में हमारे भावों, अनुभूतियों और जीवन का शुद्ध और यथार्थ रूप अपनी सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ प्रकट होता है।

"लोकगीत का स्वरूप निर्बन्ध होता है। उसकी स्वाभाविकता सरसता और स्वच्छन्दता हृदय को आनन्दित कर प्रभाव उत्पन्न करती है। जिस प्रकार लहराता हुआ सागर गम्भीर एवं गहन है। जिस तरह गंगा की पवित्र धारा पवित्र एवं स्वच्छंद है, जिस प्रकार नीलाकाश में उड़ने वाले पक्षी स्वतन्त्र एवं सरल हैं, उसी प्रकार हमारे लोकगीत स्वच्छन्दता, सरलता की पीयूषधारा हैं।"

—राजाराम रस्तोगी

"लोकगीत वस्तुत:। उस मानव संस्कृति और समाज के प्रतिनिधि हैं जो कि नागरिक वातावरण और कलात्मक साहित्यिकता से दूर ग्रामीण जीवन सम्बन्धित हैं। शिष्ट मर्यादित और कलात्मक गीत समाज के केवल उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो कि नागरिक तथा सुसंस्कृत हैं। इसलिए लोकगीत

किसी भी देश की जन-संस्कृत की विचारधारा और चिन्तन पद्धति की जानकारी में साहित्यिक गीतों की अपेक्षा अधिक सहायक होते हैं।"

—क्षेमचन्द सुमन

इस लोक साहित्य की विशेषता यह है कि सुनने वालों को तुरन्त मुग्ध कर लेता है। इसका श्रवण और श्रावण, आदान और प्रदान साथ ही चलता है। एक स्थान का व्यक्ति दूसरे स्थान गया, वहाँ उसने कुछ नई कहानियाँ सुनाईं और कुछ नई सुनीं, कुछ गीत सुनाए, कुछ वहाँ के सुनकर सीखे, कुछ पहेलियाँ बूझीं और कुछ बुझाईं। इस प्रकार दो स्थानों के सम्पर्क से लोक साहित्य का भण्डार बढ़ा। इससे सुनकर सीखने वालों की मेधा को श्रेय देना चाहिए। उनमें इस प्रकार नई चीजों को ग्रहण करने की जिज्ञासा सुनकर याद रखने की स्वच्छ दृष्टि होती है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इसके साथ ही साथ इस लोक साहित्य में कुछ स्वयं ही ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जिससे कि यह सहज स्मरणीय बना रहता है।

लोक साहित्य की किसी रचना का मौलिक रूप क्या था, यह जानना कठिन है। प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों के द्वारा इन रचनाओं के बराबर संस्करण होते रहते हैं। उच्चारण की सुविधा के अनुसार उनके शब्द बदलते हैं। प्रादेशिक एवं क्षेत्रीय भाषा सम्बन्धी विशेषताएँ और भाव सम्बन्धी रंगीनियाँ चढ़ती रहती हैं। इस प्रकार अपने प्रारम्भिक रूप में ये रचनाएँ प्रायः भिन्न सी होती रहती हैं। परन्तु कुछ पंक्तियाँ जो अधिक सरस भावों को अधिक रमणीय और सुग्राह्य भाषा में व्यक्त करने वाली होती हैं वे अनेक प्रान्तों में प्रचलित होकर भी अपनी कुछ विशेषताओं को निरन्तर बनाये रखती हैं।"[१]

सामान्यतया सहज ग्राह्यता, सरलता, रोचकता (शब्द रचना, संगीतात्मकता, लयात्मक शैली) भावात्मकता, प्रभविष्णुता और सांस्कृतिक समृद्धि का चित्रण आदि लोक साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं। साहित्य में जो हमारा अभीष्ट है और जिसके लिए साहित्यकार प्रयत्न करते हैं, साधना साधते हैं वह सब लोक साहित्य में सहज सुलभ है। लोक साहित्य की अभिव्यंजना प्रायः प्रतीकात्मक होती है। इसीलिए उसमें प्रतिबिम्बित कराने की असाधारण शक्ति

---

१—हमारा लोक साहित्य-लेख, 'स्वतन्त्र भारत,' १५ अगस्त, १९५६, डॉ० भगीरथ मिश्र।

के दर्शन होते हैं। इन सबके अतिरिक्त लोक साहित्य की एक मौलिक एवं महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि "लोक कला की प्रारब्ध धरती से जुड़ी हुई है, यह लोकगीत हो अथवा लोक नृत्य, लोक कहानी हो अथवा लोक नाटक, लोक परम्परागत मूर्ति कला हो या चित्रकला, इनकी रूपरेखा से धरती की सुगंधि आयेगी। यही कारण है कि लोक-कला प्रान्तीय अथवा एक देशीय न होकर सदा विश्व व्यापी वस्तु के रूप में जीवित रहती है।"[1]

लोकोक्तियाँ, ढकोसले, पहेलियाँ आदि लोक साहित्य के अनेक प्रकार हैं। कहावतों, ढकोसलों, पहेलियों तथा लोकोक्तियों की गणना सरस साहित्य के अन्तर्गत नहीं की जा सकती क्योंकि ये भाषा की रूढ़ि और परम्परा से सम्बन्धित होती हैं। लोक कथाएँ, लोकगीत, सरस साहित्य के अंग हैं।

## लोक कथाओं का वर्गीकरण

१—**पशु पक्षियों की कथाएँ** :—ये प्रायः शिक्षाप्रद होती हैं। बड़े बूढ़े इन्हें बच्चों के लिए कहते हैं। इनकी परम्परा पंचतत्र तथा हितोपदेश से सम्बन्धित है।

२—**त्यौहार और व्रतों की कथाएँ** :—ये कथाएँ धार्मिक होती हैं और भिन्न भिन्न पर्वों तथा व्रतों के अवसर पर कही सुनी जाती हैं। इनका उद्देश्य धर्म भावना, सदाचार, त्याग, परोपकार, ईश्वर भक्ति आदि का संचार करना होता है।

३—**रसात्मक कथाएँ** :—इस प्रकार की कथाएँ मनोरंजन के लिए कही सुनी जाती हैं। इनमें प्रभावित करने की अप्रतिम शक्ति होती है। इसके विषय में विस्तार की कोई सीमा रेखा निर्धारित नहीं की जा सकती है, अधिकतर राजारानी, राजकुमारी का प्रेम, साहस, वीरता, विचित्र रोमान्स इन कथाओं का विषय होता है। प्रायः अद्भुत रस और कौतूहल ही इनमें विशेष होता है।

लोक साहित्य के विभिन्न प्रकारों में लोक गीतों का अपना विशेष महत्व है। उन्हें हम लोक साहित्य का सबसे जोरदार अंग कह सकते हैं। लोक गीतों का महत्व प्रतिपादित करते हुए स्काटलैण्ड के सुप्रसिद्ध देशभक्त 'फ्लैचर' ने १७०६ ई० में ठीक ही कहा था—'किसी भी जाति के लोकगीत उसके विधान

---

१—धीरे बहो गंगा—देवेन्द्र सत्यार्थी, पृ० ३७

से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।' लोकगीत के स्वर दूर से आते हैं। न जाने कहाँ से वे स्वर फूट पड़ते हैं? युग युग की पीड़ा वेदना, युग युग की हर्ष श्री, रीति नीति, प्रथा गाथा, अचूक सहज रूढ़ि वार्ता, भौगोलिक एवं वातावरण निर्मित संस्कृत परम्परा ये सभी इन स्वरों में अपने नाम धाम अथवा वंश आदि का परिचय देती प्रतीत होती हैं। नीरव उदास दोपहरी हो या रात का दूसरा पहर ये स्वर थमते ही नहीं।[१] निर्बाध गति से बहे जाते है। जनता के भावों का, आवेगों का, आशा निराशा का, घृणा और प्रेम का, दुःख और सुख का तथा आकांक्षा और उनके घात प्रतिघातों का सुन्दर स्वरूप इन लोक गीतों की मधुरिमा है।

प्रत्येक भाषा, और प्रत्येक बोली का अपना लोक-साहित्य होता है। इन भिन्न-भिन्न भाषाओं और बोलियों के लोक साहित्य की आत्मा अभिन्न है। भाषा का भेद होते हुए भी गीतों में व्याप्त भारतीय मानव का हृदय उसके सुख दुःख की अनुभूति, उसकी आशा निराशा एक जैसा ही है। शब्दों की दृष्टि से स्थान स्थान के गीत अलग अलग होने पर भी सबमें समान अर्थ का धागा पिरोया हुआ है। अर्थ की एकता गीतमय भारत को विलक्षण एकता प्रदान करती है।[२] गाँव के नाम अलग अलग हैं आदमी सभी जगह एक से हैं का भी यही अर्थ है। इसी आशय से सम्बन्धित एक अंग्रेज विद्वान् का कथन भी दृष्टव्य है—'एक एक आदमी एक विच्छिन्न दीप ही तो है, आदमी आदमी के बीच बे अन्दाज़ नमकीन आँसुओं का सागर मौजूद है। दूर से जब एक दूसरे की ओर निहारता है तो सोचता है, अहो हम तो एक ही बड़े मुल्क के निवासी हैं, बीच के समस्त रूदन किसी के अभिशाप से झाग बनकर उमड़ पड़े हैं।''

'लोकगीत मानो कभी न भीजने वाले रस सोते हैं। वे कंठ से गाने के लिए और हृदय से आनन्द लेने के लिए हैं।...गीतों की तान उसका प्राण कहा जा सकता है। कंठ से गाये जाने वाले गीत में जितना अर्थ प्रकट होता है, लिखे हुए अक्षरों से उतना नहीं।[३] शब्दों की अपार शक्ति, जो विकसित आत्मा के प्रतीक होने पर बिना किसी मानसिक चमत्कार के बिना पिंगल ज्ञान

---

१—बेला फूले आधीरात—देवेन्द्र सत्यार्थी पृ० १

२—धीरे बहो गंगा—वही—आमुख-डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ ६

३—धीरे बहो गंगा—देवेन्द्र सत्यार्थी.

के सदा से हृदय की मात्र भाषा का आशीर्वाद प्राप्त करती आई है, लोकगीतों में प्रत्यक्ष होती है। लोकगीत एक झरने की तरह हैं, जो पहाड़ चीरकर फूट पड़ता है, मस्तिष्क की भाषा इनके पास नहीं मिलती, हृदय के बोल-सहानुभूति के चिरसखा इनका सर्वस्व है।

भारत कृषि प्रधान देश है और इनकी अधिकांश जनता ग्रामवासिनी है, जो निर्धन होने के साथ साथ निरक्षर भी है। इस निरक्षर और निर्धन जनता का लोक गीतों से चोली दामन का साथ है। आज के संघर्ष शील जीवन में कला और साहित्य का आनन्द लूटने का समय किसके पास है लेकिन ग्रामीणों के लिए लोकगीतों का रस अब भी अमृत के समान है। लोक गीतों के द्वारा हम अपनी संस्कृति तथा सामाजिक जीवन की झांकी पा लेते हैं। किसान और मजदूरों के गीतों से लेकर प्रेम तथा प्रकृति के मधुर गीत, लोक गीतों के प्राण हैं।

डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने 'बेला फूले आधी रात' के आमुख में लिखा है—हमारी ग्रामवासिनी जनता कितनी ही निर्धन और अशिक्षित क्यों न हो, अभी उसके जीवन से कविता की विभूति का लोप नहीं हुआ है। काव्यामृत का रसास्वादन—वस्तुत: यही तो लोक कविता है—एक भारतीय सूक्ति के शब्दों में यही तो जीवन के विष वृक्ष का मीठा फल है, जो जनता के कठोर और कठिन जीवन में थोड़े बहुत रस का संचार कर पाता है। हमारे लोक गीतों का जितना सांस्कृतिक महत्व है उतना साहित्यिक गीतों का नहीं। साथ ही स्वाभाविकता, तीव्रता, सघनता और गहरे पारदर्शी एवं हृदय द्रावक संकेतों से जितने हमारे लोकगीत ओतप्रोत हैं, उतने साहित्यिक गीत नहीं। वस्तुत: भारतीय लोक गीतों में सुविस्तृत कुटुम्ब कबीलों की एक स्वरता, भारतीयता और राष्ट्रीय एकला की मधुर विभूति निहित है। देश और गाँव का इतिहास लोक गीतों की अमर कविता की रूपरेखा अंकित करता है। यह कहा जा सकता है कि देश का वास्तविक इतिहास, समय की गतिविधि, जाति की संस्कृति और प्रतिभा, समाज के संस्कार, उपकरण और आदर्श इन सबका अध्ययन लोक गीतों की सहायता से ही किया जा सकता है।

लोक कथाओं की भाँति ही लोक गीतों के भी अनेक वर्ग हैं, जिन्हें हम प्रमुख पाँच भागों में विभाजित कर सकते हैं:—

१—संस्कारों के गीत

२—उत्सव त्यौहारों के गीत

३—ऋतुओं के गीत

४—ऐतिहासिक गीत

५—दैनिक जीवन के गीत

ये सभी वर्ग हमारे सामाजिक जीवन से सम्बद्ध हैं और सभी सम्मिलित रूप से हमारे पूर्ण सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालते हैं लेकिन सरलता के लोभ से हम प्रत्येक वर्ग पर पृथक-पृथक विचार करेंगे।

**१—संस्कारों के गीत** :—संस्कारों के गीत में सोहर, चरूआ, पसनी, छठी, मुण्डन, जनेऊ, विवाह, गौना, ज्यौनार आदि के गीत आते हैं। इनमें सामाजिक दशा, जीवन का आदर्श तथा संस्कृतियों, रूढ़ियों और विश्वासों का चित्रण रहता है। एक भोजपुरी विवाह गान देखिए, किस प्रकार नैहर छोड़ने के विचार से कन्या का हृदय चिन्ताग्रस्त हो उठता है—

बाबा बाबा गोहरावौं बाबा नाहीं जागैं
देत सुनर एक सेंनुर भई ली पराई
भैया भैया गोहरावौं भैया नहीं बोलें
देत सुघर एक सेंनुर भयउँ पराई।
बनवा में फूले ली बेइलिया अतिहि रूप आगरि
भलिया न हाथ पसारे तू हौसि जा हमार
जनि छूबा ए माली, जनि छुप अबहिं कुवाँरि
आधी रात फूलिहें बेइलियाँ त होइबों तोहार।
जनि छुअ, ए दुलहा, जनि छुअ अबहिं कुँवारि
जब मेरे बाबा संकलाए हे तब होइबो तोहारि॥

उपर्युक्त गीत में कौमार्य रक्षा का प्रयत्न भी स्पष्ट है, साथ ही 'जब मेरे बाबा संकलाए हे तब होइबो तोहारि' से स्पष्ट है कि शादी विवाह की समस्या बाबा द्वारा हल की जाएगी। हमारे यहाँ माता पिता द्वारा विवाह सम्बन्ध निश्चित करने की प्रथा प्राचीन है और उसकी स्पष्ट छाप हम इस गीत में पाते हैं।

नारी की पूर्णता मातृत्व में है। यदि विवाह के बाद पर्याप्त काल व्यतीत होने पर भी संतान जन्म नहीं लेती तो नारी का सम्मान समाज में कम होने लगता है। स्वयं नारी भी अपनी अपूर्णता के लिए दुःखी होने लगती है और अपनी अपूर्णता को पूर्णता में बदलने के लिए देवी देवताओं की मनौतियाँ करती है। निम्नलिखित गीत में नारी गंगा से अपनी कोख भरने की प्रार्थना

करती है—

> गंगा जमुनवा के विचवाँ ते वइया एक तप करइ हो
> गंगा अपनी लहर हमैं देतिउ मैं मझधार डूबित हो
> गंगा न मोरे सास ससुर दुःख नाहीं नैहरि दूर बसै
> गंगा न मोरे हरि परदेश कोख दुःख डूबब हो
> जाहु, तेवइया, घर अपने हम न लहर देवइ हो
> तेवई आज के नवएँ महनिवाँ होरिल तोरे होइ हैं हो।
> गंगा, गहबर पिअरी चढ़उबै होरिल जब होइ है हो
> गंगा, देउ भगीरथ पूत जगत जस गाइब हो ।।

यह गीत हमारे यहाँ के अन्ध विश्वासों पर पूर्ण प्रकाश डालता है। खैर जो भी हो, स्त्री के गर्भ रह जाता है। ननद, भावज, सूत कातते हुए शर्त लगाती हैं। ननद कहती है—भाभी तुम पुत्र जन्मोगी। भाभी प्रसन्न होकर उसे अपने 'गले की तिलड़ी' देने का वादा करती है। प्रथम मास से लेकर नवम् मास तक के लक्षण क्रमशः दृष्टिगोचर होते हैं और अन्ततः पुत्रोत्पन्न होता है—गीत इस प्रकार है—

> ननद भावज दोनों कातें सूत मनरजना।
> तबई कातत बदलई होड़ अहो मनरजना।
> भाभी जो तुम जनमों पुत्तर हो मनरजना।
> बीबी मैं जो जनमूँ पुत्तर हो मनरजना।
> तुमको दूँगी गले की तिलड़ी अहो मनरजना।
>
> धन को पहला मास जब लागा
> उसके होठ सुखे फल लागा।
> धन को तीजा मास जब लागा
> उसके नीबू नरंगी मन लागा।

जच्चा प्रसव वेदना से पीड़ित है लेकिन परिवार में इतनी प्रसन्नता व्याप्त हो गई है कि किसी को भी जच्चा की वेदना का अधिक ध्यान नहीं। सभी चाहते हैं कि वह (जच्चा) शीघ्र शांत हो जाए, अतः स्त्रियाँ गान गाने लगतीं हैं—

> हुन हुन का है को लगावै री अलबेली जच्चा
> उस दिन को कर ले री याद अलबेली जच्चा

तैंने बिछाई सुख सेज री अलबेली जच्चा
सासू भी आवै, चरवै धरावै
चरवे धरावै, माँगै नेग री अलबेली जच्चा !

साथ ही नवजात शिशु के सम्बन्ध में भी नाना प्रकार की कामनाएँ प्रकट करती हैं—

बाबा कहके बोलेगा
दादी कहके बोलेगा
अम्मी कहके बोलेगा
खोल बछुड़वा लाला अँगना में खेलेगा
पैरों में पैंजनियाँ लाला छमछम डोलेगा।

और जच्चा को राहत मिलती है। कोई सुख की बात करे तो थोड़ी देर के लिए हम दुःख को भूल जाते हैं—यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। सास, जिठानी के बाद 'ननद' आती है और दिए गये आश्वासन (गले की तिलड़ी के सम्बन्ध में) को पूरा करने के लिए कहती है। भाभी प्यार में लड़ उठती है और कहती है—

जो मैं जानूँ ननद ऐसी खोंटी
इसके भैया को मुँह न लगाती
मुँह जो लगाती बातें न करती
नैनों से नैना मिलन नहीं देती हो मनरजना
'तिलड़ी' न मन से छूटे हो···

संस्कारों के गीत अधिकांशतः नारियों के हैं और नारियों के गीतों में केवल पारिवारिक जीवन ही नहीं, सामाजिक जीवन की भी पूरी पूरी छटा दीख पड़ी है। हमारे लोकगीत अधिकांशतः देश और काल से प्रभावित रहे हैं। यही कारण है कि आज 'बन्ने तेरी घोड़ी चने के खेत में' या 'साले जाइयो कहाँ ड्यौढ़ीवान लगाई दूँगी' न गाये जाकर 'बिन बिधा भारत देश बिगाड़ रह्यौ, हर हर बिगाढ़ रहौ सुन सजनी।' या 'दूर कोई गाये, धुनि ये सुनाये, आज है दिन सुखदायी, बन्नी ने आजादी पाई।' आदि गान उच्चारित होते हैं। उपर्युक्त उदाहरणों में हमारे जीवन को सही-सही अभिव्यक्ति मिली है। एक गीत और देखिए जिसमें लौकिक सौन्दर्य सम्बन्धी नियम को कितनी

कुशलता और सरलता के साथ अभिव्यक्ति मिली है—

देखो जी गोरे रंग पर हर कोई मचलता है
चकले पर गोरी लोई देख बेलन भी मचलता है ।

एक 'बरनी' देखिए जिसमें शिक्षा प्रसार की बात को अभिव्यक्ति मिली है। लड़कियाँ पढ़ लिख जाती हैं तो घरवालों के सामने पढ़े लिखे वर खोजने की समस्या उठ खड़ी होती है। पढ़े लिखे के लिए 'दहेज़'—बड़ी समस्या बन जाता है—

बरनी हमारी इंगलिश पढ़ी हैं
इंगलिश पढ़ा वह वर चाहती
बरनी के बाबा निकले वर ढूढ़न
बरनी के चाचा निकले वर ढूढ़न
इंगलिश पढ़े वर मिलते नहीं हैं
बरनी हमारी•••।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे संस्कार गीतों में जीवन की पूर्ण और सफल अभिव्यक्ति हुई है। यह सच है कि उनमें पारिवारिक चित्र अधिक मिलते हैं और सामाजिक कम, लेकिन, परिवार को समाज से पृथक् नहीं किया जा सकता।

**२—त्यौहार के गीत :**—त्यौहार और उत्सवों के गीतों में देवस्थान, नवरात्रि, देवी, गनगौर, जन्माष्टमी, रामनवमी, महालक्ष्मी, गंगास्नान, दीवाली, होली, दशहरा आदि के गीत आते हैं। इन गीतों में भक्तिभाव और उल्लास की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। गंगा स्नान का एक गीत देखिए—

धीरे बहो गंगा तैं धीरे बहो
मोरा पिया उतरइ दे पार
काहेन की तोरी नैया री
काहे की करूवारि
कहाँ तेरा नैया खेवैया
के घत उतरइँ पार
धीरे बहो गंगा तैं धीरे बहो
मोरा पिया उतरइ दे पार

धर्मँ कइ मोरी नैया रे
सत कइ लगी करूवारि
सैंया मोरा नैया खेवैया रे
हम धन उतरब पार
धीरे बहो गंगा···।

जैसे गंगा सब समझती हो और एक स्त्री की प्रार्थना पर विचार कर सकती हो। यदि गंगा शांत होकर सब सुन लेती और चुप रहती तो भला क्या बात बनती ? लोक-मानस की सामूहिक प्रतिभा द्वारा यह सम्भव हो सका कि गंगा भी कुछ कहे। गंगा के प्रश्न भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं जैसे स्वयं इस देश की संस्कृति ही से प्रश्न पूछ रही हो। तभी गंगा के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर वह देती है और उसकी भाषा में वस्तुतः इस देश की संस्कृति ही बोलती है। इस गीत की प्रशंसा में स्व० पं० रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है—'यह गीत जिस समय मंद मंद स्वर में गाया जाता है हृदय तरंगित हो उठता है। तभी कवि के रचे हुए इस भावपूर्ण गीत की तुलना हिन्दी के उच्च से उच्च कवि की कविता से की जा सकती है।"

प्रकृति को अपना बनाने और स्वयं प्रकृति का हो जाने की प्रवृत्ति भारतीयों में किसी विशेष समय से नही वरन् सदा से है। भारतीयता स्वयं प्रकृति की वात्सल्य भरी गोद में फूली फली है। एक झूमर गीत में प्रकृति को व्यापक प्रतिमान के रूप में प्रयोग करते हुए एक युवती के मन में उल्लास, निराशा और आशा का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है—

काहे मनमारे खड़ी गोरी अंगना
धरती के लंहगा बादरी की चोली
जोन्हीं के बटन—
रूपे के बाजूबन सोने का कंगना
काहे मन मारे···

उपर्युक्त गीत में रूप की क्षणभंगुरता तथा पुर्नजीवन के दार्शनिक सत्य को कितनी सरल और सुन्दर अभिव्यक्ति मिली है यह सहृदय हृदय संवेद्य है। 'मत करो प्रिय रूप का अभिमान कब्र है धरती कफन है आसमाँ'—जैसे आधुनिक गीत इसकी जूठन सी जान पड़ते हैं।

घृणा पर प्रेम और हिंसा पर अहिंसा की विजय का नियम चिर प्राचीन

है। प्रेम और अहिंसा हमारे पुनीत और अति प्राचीन आदर्श हैं। मुँह बोले सम्बन्ध को निभाने के लिए मर मिटना हमारी पावन परम्परा है। इन सम्बन्धों को निभाने के लिए हर प्रकार के स्वार्थ और सुख का परित्याग कर देना भारतीयों का गुण है। 'सुरहिन और सिंह' की गाथा में यह सब भाव गूँथ दिए गए हैं। 'गाय' लोक-जीवन की विशेष विभूति है। वैदिक कवियों ने जिस हृदय से गाय का अभिनन्दन किया है वह विश्व साहित्य में अद्वितीय है। लोक कथाओं और लोक गीतों में भी गाय के प्रति कुछ कम आत्मैक्य नहीं दिखाया गया है। इस गाथा के रूप में बुन्देलखण्ड के 'देवी भजन' को देखिए और अहिंसा के विजय गान की परख कीजिए—

दिन की ऊँघन, किरन की फूटन<br>
सुरहिन बन को जाय हो माँ<br>
इक बन चाली, दुज बन चाली<br>
निज बन पौंची जाय हो माँ

× ×

आओ आओ बछरा पीलो मेरा दुधवा<br>
सिंघा बचन हार आई हो माँ<br>
हारे दुधवा न पियों मोरी माता<br>
चलो तुम्हारे संग हो माँ<br>
आगे आगे बछरा, पीछे पीछे सुरहिन<br>
दोऊ मिल बन को जाँय हो माँ<br>
उठ उठ हेरे बन के सिंघा<br>
सुरहिन आज न आई हो माँ<br>
बोल की बाँदी बचन की साँची<br>
एक से गई दो से आई हो माँ<br>
पैले मइयाँ हमई को मरवालो<br>
पीछे हमारी गाय,हो माँ<br>
कौन भनेजा, तोय सिख बुध दीन्ही<br>
कौन लगे गुर कान हो माँ

देवी जालपा सिख बुध दीन्हीं
वीर लंगर लगे कान हो, माँ
जो कजली बन तेरो भतेजा
छुटक चरों मैंदान हो माँ ।

इस गाथा में बचन बद्धता और उसके निभाने का आदर्श तो प्रस्तुत किया ही गया है साथ ही यह भी विचारणीय है कि जब गाय अपने बच्चे से जाकर यह कहती है कि मैं सिंह को बचन दे आई हूँ, अतः अन्तिम बार तुम मेरा दूध पीलो, तब माँ की ही भाँति बछड़ा भी आदर्श उपस्थित करता है। वह यह नहीं कहता कि अब तो तुम चंगुल से बच आई हो अतः जाने की क्या आवश्कता है, वरन् वह तुरंत उसके साथ चल देता है और शेर से रिश्ता कायम कर लेता है। इस प्रकार यह गाथा हमारे आदर्श जीवन का अत्यन्त यथार्थ उज्जवल और संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करती है।

होली के गीत भी उसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। होली के गीतों का प्रसार सबसे अधिक व्रज में हुआ है। इसका ताल निराला है और इनकी एक विशेषता यह भी है कि होली के परम्परागत प्रसंग से हटकर ये जीवन के किसी भी चित्र को प्रदर्शित करने की सामर्थ्य रखते हैं—

खोटो है काम किसान नादान को
सुख नाँने रे
मिलो धूर माटी में
नहिं मिलै बरवासिर रोटी
जाकी बुरी कमाई खोटी ।

होली गाते समय उल्लास का स्वर फूट पड़ता है। इसीलिए किसान तकादे के लिए आये साहूकार को दीन हीन होकर भी फटकार देता है, निर्द्वन्द्व होकर उत्तर दे देता है—

गेहुँन में रतुआ लगौ
चनन में लागी सुड़ो
हरैर में कीटा लगौ
सब भाँति फूटी मुड़ी
परि गये पथरा
लरिका बारे परे उघारे

तोय परी अपनी अपनी
पैसा नाँय पास बोहरे
बेसकि करि आ दावा
मत देइ दुआर पै कावा ।

होली की वास्तविक विशेषता शृंगार में उभरती है—

कोठे पै ठाढ़ी नार
झूमका सोने का
जाई लगौ चाव गौने को ।

इस प्रकार त्यौहार और उत्सवों के गीतों में भी हमारे सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति हुई है ।

**३- ऋतुओं के गीत :—** इस वर्ग के अन्तर्गत बारहमासा, सावन, कजरा, हिंडोला, मल्हार, देवारी, रसिया, फाग, चौताल, चेती आदि गीत आते हैं । इन गीतों में ऋतु के स्वाभाविक एवं प्राकृतिक वातावरण की पृष्ठभूमि में मानव भावना का सामूहिक प्रकाशन होता है । ये प्रकृति गीत हैं । इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अपनी ही ऋतु विशेष में अच्छे लगते हैं, दूसरी ऋतु में नहीं । सावन में फाग और फाल्गुन में हिंडोला फीके लगेंगे । अपनी ऋतु में ही इसका महत्त्व है ।

प्रियतम प्रवास में है । प्रेयसि विरह भोग रही है और ऐसे समय में ही वसंत आ जाता है । प्रेयसि की विरहाग्नि और अधिक तीव्र हो जाती है । साहित्य और अध्ययन और दैनिक जीवन के अनुभव से ज्ञात होता है कि मन जब सुखी होता है तो हम सभी ओर हर्ष ही हर्ष देखते हैं । और जब मन दुखी होता है तो वाह्य सभी उपादान जो सुख के समय न केवल सुखी मालुम हो रहे थे वरन् मन के सुख को बढ़ा भी रहे थे, दुखी और उदासीन मालूम होते हैं । इस कथन की एक संभावना यह भी है कि प्रकृति के जो उपादान सुख के समय हमारे सुख को बढ़ाते हैं, वे ही उपादान दुख के समय हमारे दुख को और भी अधिक बढ़ा देते हैं । एक चैती देखिए—

नइ भेजे पतिया,
आइल चैत उपपतिया हे रामा
विरही कोयलिया शब्द सुनावै
कल न पड़ै अब रतिया हे रामा

बेली चमेली फूले बगिया में
जोबना फूलल मोर अंगिया में हे रामा
नइ भेजै पतिया !

उक्त चैती में नायिका विरह व्याकुल हो रही है, पर जेठ माह के आते ही वह कहती है—

आयो जेठ असाढ़ बन बोय देरे सियहरा ।

अब देखिए एक 'हिंडोला' जिसमें परिवार के प्रेम का करुण चित्र प्रस्तुत किया गया है—

गूलरिया झक झालरी, गूलर रहे गदकार
झूला से झूलत नागन डस गई
डस गई उंगली के बीच
झूला रे झूलत नागन डस गई
ससुर से कहियो मोरी विनती
सास के सात सलाम
दिल्ली ते लाऊँ तो को बायगी
मथुरा ते लाऊँ वैद हकीम
झूला रे झूलत नागन डस गई ।

उक्त 'हिंडोला' में बहू की ससुर और सास के निकट सम्मान की भावना, और पति का पत्नी के प्रति प्रेम स्पष्ट है ।

अब सावन के गीत देखिए । यों तो सावन के सभी गीत अत्यन्त लोकप्रिय हैं । लेकिन सावन के गीतों में 'मोरा' गीत की स्वर लहरी और भी अधिक हमारा मन मोह लेती है—

भर भादों की मोरा रैन अँधेरी
राजा की रानी पानी नीकरी जी
काहे की गगरी रे मोरा काहे की लेजू
काहे जडाऊँ धन ईंडुरी जी
सोने की गगरी रे मोरा रेशम लेज़
रतन जड़ाऊँ धन की ईंडुरी जी
आगे आगे मोरा चाले पीछे पनिहारि ।

× ×

सोने को मोरा राजा चोरी में जाइ
बाकी कौ हौक मेरे मन बसी जी
जौ तुम्हें धनियाँ मेरी मोरा की साध
काठ कौ मोरा राजा जारि बरि जाइ
बाकी कौ हौक मेरे मन बसी जी
छाती पै मोर गुदाइगे जी
छाती कौ मोरा राजा बोले न बोल
बाकी कौ हौक मेरे मन बसी जी ।

निसंदेह 'मोरा' अत्यन्त उच्चकोटि का गीत है । इसके सम्बन्ध में डाक्टर सत्येन्द्र ने लिखा है —"……इस सीधी सी गीत कहानी ने जनमानस में जो जीवन की अन्तर्व्यापिनी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति की है वह कितनी अनुपम है, कितनी सहज और कार्यादीप्ति से शून्य एक सहज संवेदना के फल सी । क्या इसमें सूक्ष्म मनोविश्लेषण नहीं मिलता ? रानी के हृदय में मोर की कुहुक का बस जाना और उसकी प्रतिस्पर्द्धा का परिमार्जन मोर को मार कर किया जाता और फिर भी अमिट कुहुक का ज्यों का त्यों बने रहना जैसे कोई दर्शनिक सूर हो जिसकी व्याख्या में नश्वर यह काया थी उसकी अमर अभिव्यक्ति का चिरन्तन सत्य उपस्थित किया जा रहा हो और मोरा ने मोर के रूप में ही रहकर तो इस कहानी को रूपक की भाँति अनेक अर्थों से पूर्ण कर दिया है । शब्द सौष्ठव इस गीत में नहीं पर आकर्षण कितना अधिक है और विचार शील विवेचन के मस्तिष्क के लिए तो इसमें कितनी सामग्री है ।[1] इसी गीत के विषय में श्री देवेन्द्र जी ने लिखा है—'मोरा' में प्रियतम के प्रतीक की कल्पना का सूत्र उस युग का स्मरण कराता है, जब भावना की दृष्टि में प्रकृति की विशाल और स्निग्ध मोद का स्पर्श सबसे अधिक महत्त्व रखता था । अनगिनत शताब्दियों को लाँघता हुआ मानव यंत्र युग की दहलीज पर खड़ा नजर आता है । यंत्र युग की यंत्र संस्कृति में उलझी हुई मानव चेतना छटपटाती है, और अपने अतीत का ध्यान करते हुए म नव की आँखों में अनेक परिवर्तन फिर जाते है जिनके साथ उसके इतिहास की कड़ियाँ जुड़ी हुई हैं । ईर्ष्या ज्यों की त्यों कायम है, आज भी नारी को किसी मानव मयूर की ओर

१. डा० सत्येन्द्र— लोक मानस के कमल—प्रताप— ३ फरवरी १९३८.

आकर्षित देखकर पुरुष के हृदय में ईर्ष्या और प्रतिस्पर्द्धा की ज्वाला भड़क उठती है।"[1]

चन्द्रावली—के गीतों का प्रधान स्वर भी पति पत्नी की पारस्परिक सौन्दर्य सम्बन्ध को स्पर्श करता है। मध्यकालीन युग से चली आने वाली सम्मिलित कुटुम्ब की पद्धति को उस जैसे अनेक गीतों की पृष्ठभूमि में रंग भरने का श्रेय प्राप्त है। श्रावण भादों में झूला झूलती हुई कन्याओं के सम्मुख अनायास ही चन्द्रावली का चित्र उभरने लगता है—

सरग उड़न्ती चिरहुली
लागौ सामन मांस
हमरे बाबल सो नौं कहौ
अपनी बेटी ए लेइ बुलवाई
ले डुलिया वीरन चले
जाइ पहुँचे जीजा दरबार
भेजो जीजा जी बहनैं को जी
भैया को रांधूगी सैंमई जी
ऊपर बूरौ खांड
सैंया को कौंधई जी
ऊपर रोटी साग
लै जाओ सारे अपनी बहैन जी
लै भैना वीरन चले
लागौ सामन मांस।

× ×

पानी न पिऊँगी पठान को
सेजौं धरूँगी न पाँव
इतनी सुनि राजा चल दिए
जारे मुगल के छोहरा
प्यासी मरे चन्द्रावली
जैसी राजदुलारी

---

१. बेला फूले आधी रात—देवेन्द्र सत्यार्थी, पृ० ६०-६१

जिसके भाई न बाप
लै लोटा मुगल चलौ
तम्बुआ दैं लई आग
हाड़ जरै जैसे लाकड़ी
केस जरे जैसे घास
हाय हाय मुगला करै
ठाढ़ खाइ पछाड़
बहू भली चन्द्रावली
राखी पगड़ी की लाज
राखी घूंघट की लाज
रानी भली चद्रावली ।

इससे स्पष्ट है कि 'चन्द्रावली' यहाँ उन नारियों की प्रतिनिधि है जिन्होंने शत्रु के पंजे में फसकर भी अपने सत् को आँच न आने दी । कदाचित यह मुगलयुग के आरंभ की ओर संकेत करता है । लोग गीतों में मुगलों की चर्चा लोक गीतों के ऐतिहासिक विकास की ओर संकेत करती है ।

'रसिया' में रस का झरना प्रवाहित होने लगता है यद्यपि कहीं कहीं इस रस की गतिविधि मर्यादा का उल्लंघन करने से भी नहीं चूकती । मर्यादा के उल्लंघन की बात सुनकर चौकने की आवश्यकता नहीं लोकगीत अपनी मर्यादा स्वयं स्थिर करता है । रसिया के स्वर कभी कभी अधिक चंचल हो उठते हैं । इन्हें बांधकर रखने का प्रयास लाभप्रद नहीं होगा । हो सकता है कि रसिया सुनते समय कुछ संकोच करें, परन्तु यह न भूलना चाहिए कि रसिया की विशेषता इसकी सर्वाङ्ग सुन्दरता में है । इसके हृदयस्पर्शी स्वरों की उठान इसकी सुन्दरता को और भी बढ़ा देती है । दैनिक जीवन इसका धरातल है । कुछ रसियों के प्रथम बोल देखिए—

लम्बरदारी में लगायदै बैरी आग परेला लै दे कंचन कौ
हरे की अंगिया जो पैरे जाय, रीझै लम्बरदार ।

× × ×

मोटर धीरे हाँक डिराइवर मेरो हालै जोबना ।

× × ×

मेरे इन हाँथन की मेंहदी काऊ दिन सुपनौ ह्वै जाइगी ।

अब एक संपूर्ण रसिया देखिए जिसमें यौवन का वर्णन किया गया है—

ज्वानी सरर सरर सर्रावै
जैसे अंगरेजन कौ राज !
जैसे उड़े हवाई जहाज
काजर दै मैं का करूँ
मेरे वैसेई नैन कटार
जाते मिल जाय निगाह
सोइ है जाइ ताबेदार
उमरि खिचे पै कोऊ न पूछे
जुआनी कौ संसार।

रसियों में कितनी ही घोर शृंगारिक बात क्यों न कही जाय पर उसके अन्त में कुछ ऐसी दार्शनिकता का पुट रहता है कि रसिकों को 'अश्लीलतत्व दोष से बचा लेता है। यह रसिया उस समय का ज्ञात होता है जब भारत में अंग्रेजों का राज्य स्थापित हुआ था—और वे नए नए चमत्कार भारत को दिखा रहे थे—जनता को भुलावे में डालने के लिए।

एक 'फाग' में प्रेम की सामाजिकता का सुन्दर निदर्शन किया गया है जो द्दष्टव्य है—

चाहै कछु ह्वै जाइ
उमरि भरि मेरी निभाइ देउ बलमा
नई गोरी, नए बलमा, नई होरी की झाँक
ऐसी होरी दागियो तेरे कुल को न आवै दाग
सम्हरि कै यारी करौ मेरे बलमा !

× ×

प्रीतम प्रीति लगाइ कैं बसन दूरि नईं जाउ
बसौ हमारी नागरी सो दरसन दै दै जाउ
नजर सैं टारे टरौ नई मोरे बलमा !

उक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि बुंदेली जनता के हृदय में रस की मात्रा बहुत अधिक है तथा हृदयगत भावों को चुस्त भाषा में व्यक्त करने की सामर्थ्य उनमें विद्यमान है।

४. ऐतिहासिक गीत :—

इस वर्ग के अन्तर्गत प्राय: वीरों, प्रेमियों और त्यागियों की उत्तेजक भावनाएँ ध्वनित हुई हैं। इनमें क्षेत्रीय इतिहास की रेखाएँ अधिक उभरीं हैं। किसी देश की विस्तृत किन्तु महत्वपूर्ण गाथाएँ इनमें वर्णित हैं। इस वर्ग में कुछ राष्ट्रीय गीत भी सम्मिलित हो गए हैं।

बिहार के एक लोकगीत में वीर कुँवर सिंह का व्यक्तित्व चित्रित किया गया है। जो सन् १८५७ की राज्यक्राँति के प्रसिद्ध व्यक्तियों में से थे। यह गीत स्त्रियाँ बड़ी धुन में गाती हैं—

लिखि लिखि पतिया के भेजलिन कुँअरसिंह
ए सुन अमरसिंह माय हो राम
चमड़ा के टोड़वा दाँत से हो काटे कि
छत्तरी के धरम नसाय हो राम
बाबू कुँअरसिंह औ भाई अमरसिंह
दोनों अपने हैं भाई हो राम
बतिया के कारण से बाबू कुँअरसिंह
फिरंगी से राढ़ बढ़ाय हो राम
दानापुर से जब सजलक हो कम्पू
कोइलवर में रहे छाया हो राम
लाख गोला तुहुँ कै गनि के भरिहौं
छोड़ बरहखा रोवत बाड़े बाबू कुँअरसिंह के राज हो राम
मुखवा पर घर कै रूमाल हो राम
लेली लड़या हम तो बूढ़ा हो समय में
अब कउन होइहें हवाल हो राम।

शंकरपुर के राना बेनी माधवसिंह दूसरे व्यक्ति थे जिन्होंने अंग्रेजों से डटकर लोहा लिया था। उनकी प्रशंसा में एक लोकगीत की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

अवध में राना है मरदाना
नेक न डराना, छीन्ह लीन्हों तोपखाना
वीर बांधे वीरबाना बैस राना विरम्हाना है।

सहारनपुर की एक स्त्री 'मेरठ' के बाजार का चित्र उपस्थित करती है।

यद्यपि वह अपने पति के भोलेपन के चारों ओर ही गीत की पंक्तियाँ घुमाने में समर्थ हो गई है पर इसकी पृष्ठभूमि में विद्रोह सम्बन्धी लूटमार का दृश्य स्वयं उभरता चला गया है—

लोगों ने लूटे शाल दुशाले
मेरे प्यारे ने लूटे रूमाल
मेरठ का सदर बाज़ार है
मेरे सैंया लूट न जाने।
लोगों ने लूटे प्याली कटोरे
मेरे प्यारे ने लूटे गिलास
लोगों ने लूटे गरी छुहारे
मेरे प्यारे ने लूटे बदाम।
लोगों ने लूटे मुहर अशर्फी
मेरे प्यारे ने लूटे छदाम।

क्रांतिकारी भगतसिंह का नाम सुनते ही हम अभिभूत हो जाते हैं और उसका व्यक्तित्व हमारी दृष्टि के सम्मुख साकार रूप धारण करने लगता है। एक लोकगीत में उसकी अन्तिम अभिलाषाएँ व्यक्त की गई हैं—

दुष्ट मुँए मोरे पल पल होत अवाँर
क्यों डरो डार गले में फाँसी
सूधा सूरा स्वर्ग को जाऊँ
धरम राय का बिथा सुनाऊँ
हर में माँग भगतसिंह लाऊँ
भारत हेत हज़ार—

अब 'मेरठ' जनपद के एक लोकगीत में गांधी का चित्र देखिए—

तेरे घर में घुस गए चोर
गाँधी दीवा दिखैयो रे
तेरे तो भाई गांधी टोपी वाले
यह टोपवाला कौन ?
तेरे तो भाई गाँधी लाठी वाले
ये बंदूक वाला कौन ?

हरियाना जनपद का लोकगीत भी गांधी के जयघोष से अपरिचित नहीं—

घर घर लेडी लंदन रोवै
गांधी बनों गले को हार
छुटवत कर दई गवरमेंट
अब वाके थोथे बाजे हथियार
बर्र ततैया जैसे चिपटन लागै
बेड़ा कौन लगावै पार
हाहाकार मचो लंदन में
बाजी नाँय पाँय या लंगोटी वाले से
हाथ याके सत्याग्रह हथियार
लंदन कोंपा गाँधी बाबा
संग में और जवाहरलाल
अब तक तो भारत में मैंणा
मुफ्ता मारा माल
नियत विरुद्ध होव जो राजा
वाको ऐसे ही बिगड़े हाल
नियत विरुद्ध रावण कीन्हीं
लंका बिछी मौत का जाल

अब तक इस वर्ग के अन्तर्गत हमने अधिकांशत: देशभक्ति और राष्ट्रीय भावना के गीत उद्धत किए हैं, इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि ऐतिहासिक गीतों के अन्तर्गत केवल इसी प्रकार के गीत आते हैं, वरन् प्रेमियों की प्रेम कहानियाँ, त्यागियों के त्याग की कथाएं भी इसी वर्ग के अन्तर्गत गिनी जाती हैं। चंद्राबल, बेला, भरथरी, हीर रांझा, हरदोल, सारंगा-सदावृक्षा आदि के सम्बन्ध में अगणित लोकगीत सुलभ हैं किन्तु स्थानीय संकोच के कारण उन्हें यहाँ न देने का लोभ संवरण करना पड़ रहा है।

**५. सामाजिक या दैनिक जीवन के गीत :—**

पाँचवां और अंतिम वर्ग उन गीतों का है जो हमारे दैनिक जीवन के अभिन्न अंग बन गए हैं—नहाते-धोते, खाते-पीते, लीपते-पोतते, चक्की पीसते, खेत बोते, निराते, काटते, कोल्हू चलाते, जूता बनाते जिन गीतों का गाया जाता है। वे इसी वर्ग के अंग हैं। ये जीवन के आयाम को हल्का

करने तथा श्रम को बनाने वाले गीत हैं। इनमें प्रायः सामाजिक जीवन की विशेषताएँ, स्वप्न, उल्लास, निराशा या अत्याचार की अभिव्यक्ति पाई जाती है। पहले प्रेम के ही गीतों को लें। हमारे यहाँ प्रेम को अत्यधिक महत्व दिया गया है। प्रेम को परोधर्मः कहकर उसे जीवन की सर्वोपरि वस्तु ठहराया गया है। एक नैपाली लोक कवि के भाव द्रष्टव्य हैं—

चम्पा चमेली मोतिया बेली
क्या होला इनका बास
माया को फूल को वासना हेरी
ई फूल छन जस्तो घास !

इसलिए जब शरीर में यौवन का विकास होता है तो युवती प्रश्न करने लगती है—'बेला फूले आधी रात, गजरा के के गले डालूँ', और उसे कोई मिल जाता है, वह उसकी प्रेमभरी दृष्टि से बिधँ जाती है। पनिहारिनों द्वारा गाई जाने वाली हिरनी सोर हिरनी की निम्न प्रेम कथा इन्हीं दोनों की प्रतीत लगती है—

छिपा न देखूँ पारधी
लगा न देखूँ बान
मैं तोहि पूँछ हे सखी
किस विधि तजे परान
जल थोरो प्रीति घनी
लगा नेह का बान
तुई पिउ, तुई पिउ, कह मेरे
इन इस विधि तजे परान।

प्रेम की दुहाई देकर भी यहां संयुक्त प्रेम की स्वतन्त्रता नहीं दी गई है। अतः प्रेम में उन्मत्त रमणी जब बनाव शृंगार करती है और उसका प्रेमी उसे देखकर मिलने के लिए व्याकुल हो उठता है तो उसे पक्खा फोड़ कर ही आना पड़ता है—

एक फूल फूलै खड़ी दुपहरिया
दूसर फूल फूलै आधी रात हो गोरिया
फुलवा बिन मैं रसा गरायो
होदा भरा रस होय

उहै रसा का मैं चुनरी रंगायो
चुनरी भई रंगदार हो गोरिया
चोर की नैया पिया लुकि लुकि आवै
जेकरे मैं ब्याही तेउ परवा फोरवा हो गोरिया ।

उक्त गीत में सौंदर्य बोध की अनुभूति भी अभिव्यक्त हुई है। प्रेम स्वयं सरस है, अतः गीतों में उसकी सरसता का क्या कहना ? लेकिन स्थानाभाव के कारण यहां विषय परिवर्तन अभीष्ट है ।

अब एक दुखिया स्त्री का चित्र देखिए जिसे उसकी सास शक्ति से अधिक पीसने को देती है। वह रोती जाती है और पीसती जाती है और बीरन को बुलाने की बात कहती है—

आले से जौ फौरी मां मेरी पीसनो
कोई रोय रोय पीसे चून
जनी ते कहियो री—
मेरो बीरन मोय लै जाय ।

और इतने में ही उसका प्रियतम घोड़े पर सवार होकर उधर से आ जाता है। किसी स्त्री के रोने का स्वर सुनकर वह पूछता है किसकी स्त्री रो रही है ? उसे उत्तर मिलता है तुम नहीं जानते—यह तो तुम्हारी ही स्त्री का स्वर है। उत्तर में सास, नन्द, जिठानी की कर्कशता को जानकर वह उसकी गीली आँखें पोंछता है ।

इतना ही नहीं, सासें बहुओं को अनेक प्रकार से तंग करती हैं। बाप बेटी की बात के संकेत से यह स्पष्ट हो जायेगा—

मेरे बाबल रे सोने के दो कलसा लैदे
मेरे बाबल रे नित नित गगरी फूटती
मेरे बाबल रे नित नित सासू कोसती
मेरी लाडो री कैसे कैसे कोसती
अरमल, परमल बाप चटरमल
मा पटरानी, भावज रानी, वीर कन्हैया कोसती

और फिर सौतेली या दूसरी सास हो फिर तो कहना ही क्या ? दुलहिन सास के पास रहती है। सास सौतेली है। बहू का पति परदेश गया हुआ है। एक तो वियोग की वेदना, दूसरे सास का दुर्व्यवहार। इसी कष्ट में कई वर्ष बीत गए ।

बहू को न अच्छा खाना मिला, न पहनने को वस्त्र—केवल मिली सास की डाट डपट आशीर्वाद में। परदेशी पति के लौटने का समाचार मिलता है और उसके आने से पहले ही सास बहू को जहरीला पकवान खिलाकर मौत की नींद सुला देती है—

और दिनों तो सूखी सी टिकिया
आज क्यों दी सास खीर की थाली री
पहले तो बहू तेरी करी अकेले
आज घर आये तेरा बालम री
और दिनों तो खट्टी दही की लस्सी
आज क्यों दिया दूध कटोरा री
पहले तो थी मेरी बहू अयानी
अब होई तू किसी जोगी री
और दिनों तो टूटी सी खटिया
आज दिया सास लाल पलंग री

लेकिन आज बहुएँ सचेत हो गई हैं और विद्रोह करने लगी हैं। एक 'मालवी' लोकगीत देखिए—

संझा बाई की सासू रूपड़ ली धूपड़ ली
असी दूंगा दारी के चमचा की चमचा की
काम कराऊँगा तड़का की तड़का की
मैं बैठूँगा गादी पैं, गादी पैं
उने बिठाऊँगा खूँटी पै, खूँटी पै।

लोक गीतों में पशुओं को बेचने खरीदने के गीत भी मिल जाते हैं। पति अपनी भैंस बेचना चाहता है परन्तु पत्नी मना करती है क्योंकि बच्चे मट्ठा के लिए तरस जाएँगे—

मत बेचे बालम भैंसिया
लड़के मही कूँ जाएँगे
साग तरकारी न होयेगी
मीड़ रोटी प्रेम सों खायेंगे

भूख और निर्धनता का संकेत कितनी सरलता से व्यक्त किया गया है।

निर्धनता के अनेक संकेत लोक गीतों में मिलते हैं—

भूखे भजन न होय गुपाला
धरि लेउ अपनी कण्ठी माला !

यही भावना एक प्रसिद्ध लोकोक्ति में द्रष्टव्य है—

भुखिया के मारे बिरहा बिसरिगा
भूल गई कजरी कबीर
देखिक गोरीक मोहनी सुरतिया
अब उठे न करेजवा मा पीर !

यह दीनता और निर्धनता भ्रष्टाचार बढ़ाने में बहुत सहायक हुई है। इसीलिए बुन्देलखण्ड की एक नव-यौवन नारी एक लोकगीत में व्यंग्य करती दिखाई देती है—

गेहूँ हते सो हो गए, भुस ले गई अंदबार
टोटे में टलवा गए, बाढ़ी में खगबार
जरी बातें में लिखि लौ दोऊ जोबना।

निर्धनता से ऊबकर न जाने कितनों ने ग्राम छोड़ दिए—

थारी बेचे, लोटा बेचे और गले का हार रे
इतना में पुंजे नाहीं, जीओ घबराय मायाँ
ए मण्डला जीला में कठिन जीना हाय रे।

लेकिन आज बहुओं की भाँति ही कृषक भी सचेत हो गया है और वह भी गुपचुप मोर्चा बनाता है। परस्पर विचार विमर्श का चित्र देखिए—

धीरे बता, धीरे बता कोई सुनि लैहै, धीरे बता
गाँव का कुतवाल सुनने न पावै
तेरी मेरी रिपोट कर दैहै, धीरे बता·····
माल गुजारा सुनन न पावै
तेरी मेरी पंचैत कर दै है
सियोनी के साहब सुनन न पावैं
तेरी मेरी जेल करि दैहै—धीरे बता !

चार-विमर्श के बाद वह अपने अधिकार की बात भी करता है—

कैसे करैं समझौनी
कोठी उठाइन, अटारी उठाइन

काटे पोत कोठानी
थनक-थनक नाचे पतुरिया
काटे पोत नचौनी

**बैठा चोर महल के भीतर**
**पति कटै चोरौनी ।**
**कैसे करै समझौनी !**

उपर्युक्त मोटे अक्षरों की पंक्तियों में पूंजीपतियों से कहा गया है कि तुमने अपने घर में चोर (अंग्रेज) घुसा लिया है। वह माल ढो रहा है और उसकी पूर्ति तुम हमसे करते हो। ऐसे गीत की मूल भावना आज के बढ़ते हुए करों के संकेत में भी है। इससे स्पष्ट है कि आज किसान जाग चुका है लेकिन अभी कुछ किसान और मजदूर ऐसे भी हैं जो सचेत नहीं हैं। उन्हें सचेत करता हुआ एक लोक कवि कहता है—

हमरे फूटे ही कर्मवा लिखी दिए ना
गरमी का कनबा सहे, सही पनिया बरसात हो
ले हर खेतवा पै जाय पड़े ना
जाउर कांपी कांपी खेतवा सेंची पड़े ना
इतनी कमइया पर पेट भर दनवा नाहीं मिले ना
तन ढाँकने की ओढ़नवा अब तो नाहीं मिले ना

× × ×

मिलन आप अपिया मनवा विपता दूरी दूरी करैना।

श्रमिक का श्रम पूर्ण जीवन गीतों से सराबोर रहता है। बोते, निराते और खेत काटते समय वह गाता है। सुख में भी वह गाता है, और दुःख में भी। टिड्डी आने पर फसल नष्ट हो जाती है पर कृषक वधू गाती है—

टीडी खाइ गई बन को पत्ता, मेरो बलम गयो कलकत्ता
टीडी आई जोर जुलुम सों, घर में रह्यो न लत्ता
लोग लुगाई देखन लागे, ऊपर चढ़ि कै अट्टा
रोटी पानी कछू न कीन्हीं भूलि गई सब रस्ता।
टीडी खाई............!

एक और किसान उच्चवर्ग के लोगों को 'वोट' दे चुकने पर प्रायश्चित

करता है—

> छोटी कौंसिल के होते जो पंच किसान
> होते पंच किसान ये बाबू कौंसिल अन्दर जाते क्यों ?
> सीट हमारी पर कर कब्जा बैठे पान चबाते क्यों ?

दूसरी ओर चुने गए प्रतिनिधि (एम० एल० ए०) की भावज आनन्द-विभोर होकर अपनी स्थिति एक सखी को (जो एक कांग्रेस नेता की ही पत्नी है) बता रही है—

> एम० एल० ए० बनि आयो री हमारो देवरिया
> हार जीत की ईसुर जाने परे गले में हार
> उछरत कूदत चढ़ौ कार मोटर मैं आयौ री
> घर में भूँजी भांग न पर लखनऊ में बिस्कुट खाय
> सड़ी झोंपड़ी के कुठौर पै अब बंगला मन्नाय
> पास परौसी कहें गधा हाथी बनि आयौ री
> नाल ठुकी मेंढ़क के झींगुर बकुचा लायौ री
> साँची कहौं बिलग मती मानो एक अचम्भा मोय
> वोट परे चाहे काहू के जीत इन्हीं की होय
> काँगरेस ने ऐसौ जादू इन्हें सिखायो री
> हमारो देवरिया.......... !

एक सखी की स्थिति सुनकर दूसरी से भी न रहा गया और वह अपने पति के ठाठ सुनाने लगी—

> टेढ़ी टुपिया लगावें, कुरता खादी के सिवांवैं
> सखि मौज उड़ावैं हो हमारे बलमा ।
> मेरे घर तौ ह्वै गयौ बहिन राम को राज
> चून चक्की पै पिसावैं, नौकर लड़िका खिलावैं
> काँगरेस के नाम पै कबहूं न काटी जेल
> जेल गये सो सड़ रहे हैं कर्मन को खेल
> काँगरेस के राज में रहे सुरग सौ भोग
> साँझ सकारे घेरि कै करहिं खुशामद लोग
> पुरिखा भूखन मरि गए मिले न रोटी साग
> वै दिन सुपने है गए अब खुले हमारे भाग

लोग भूखे चिल्लावैं हम रवड़ी उड़ावैं
वंशी चैन की वचावैं हो हमारे बलमा !

उपर्युक्त दोनों गीतों में 'भावज' और 'पत्नी' ने अपनी-अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण किया है। लेकिन दोनों ही लोकगीतों में जो व्यंग व्याप्त है वह उस स्पष्टीकरण के सर पर चढ़कर बोल रहा है। यदि इस प्रकार के व्यंग हम किसी कवि की रचना में खोजना चाहें तो हमें निराश ही होना पड़ेगा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में नेताओं की क्या दशा है ? नेता, शब्द 'लेता' में बदल गया है, कौआ 'हंस' बन गए हैं, 'गधा' शेर की खाल ओढ़ रहा है, ईमानदारी अपने भाग्य पर रो रही है और उसी का चित्रण उक्त दोनों ही गीतों में व्यंग का पुट देते हुए किया गया है।

प्राय: इन्हीं पाँच वर्गों के अन्तर्गत हमारे सभी लोकगीत आ जाते हैं। वैसे लोक गीतों का भण्डार इतना व्यापक है कि पूरा-पूरा वर्गीकरण असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। उसकी विविधता का धुँधला सा आभास इन्हीं गीतों की बानगी से हो जाता है। इनमें वातावरण और विषय की विविधता के साथ-साथ तीव्र भावनाओं की सरल और सरस अभिव्यक्ति और प्रयासहीन काव्य की छटा भी दिखाई देती है। यही कारण है कि हमारे कविजन, लोक गीतों से प्रेरणा लेते रहे हैं। भारत के विभिन्न जनपदों में गूँजने वाले लोक गीत प्रगतिशील कविता की आभा बनकर सामने आए हैं। जनपदीय शब्दावली का सहारा लेकर केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगल सिंह 'सुमन', नागार्जुन, त्रिलोचन पाण्डे, डा० रामविलास शर्मा, महेन्द्र भटनागर --आदि ने मानवीय संवेदना का बड़ा सीधा आयतीकरण किया है। उपर्युक्त रचनाओं में लोक प्रचलित शब्दों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग हुआ है। टेढ़े शब्दों के मध्यम से नई सामाजिक चेतना के विकासशील रूपों का इतना स्फूर्तिप्रद उभार रूढ़ साहित्यिक शब्दों से नहीं प्रकट होता। लोक भाषा के ठंढेपन में ही वह शक्ति है, जिसके सहारे जनवादी कवियों ने अपनी जाति भावना और मानवता की स्वाधीनता को स्वर दिया है......."मानना होगा कि हिन्दी के जनवादी काव्य साहित्य के बिरवे के लिए लोक साहित्य की प्राणधारा एक महत्वपूर्ण जीवन शक्ति है जिससे प्रेरणा और जीवन ग्रहण कर नए-नए आरक्त बीज उकसि और उभर रहे हैं।"[१]

---

१. प्रगतिशील कविता पर लोक साहित्य का प्रभाव—मुरली मनोहर प्रसाद सिंह; 'नयापथ' अगस्त १९५६ पृ० ६४२

लोक साहित्य को हम मौखिक परम्परा को जीवित रखने वाली शक्ति कह सकते हैं।"..........लोक साहित्य की प्रयोगशाला में बराबर नए-नए प्रयोग हुआ करते हैं।" प्रत्येक प्रयोग की स्तर लिपि पृथक होती है। प्रत्येक प्रयोग का सांस्कृतिक मूल्य न्यूनाधिक होता है, पर प्रत्येक प्रयोग न केवल राष्ट्र की एकता का प्रतीक होता है, वरन् इन प्रयोगों में प्राचीन और नवीन के विलीनीकरण और एकीकरण के बहुमूल्य प्रयास भी निहित रहते हैं।"[१]

वस्तुतः हमारे लिखित साहित्य के अनुरूप ही हमारा लोक-साहित्य भी समृद्ध है। उनमें जीवन के हर एक पहलू के स्वस्थ चित्र अंकित किए गए हैं; यह हम देख ही चुके हैं।

डॉ० भगीरथ मिश्र ने लोक साहित्य के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है—"हमारा लोक साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। जितना हमारा लिखित साहित्य व्यापक और विस्तृत है उतना ही हमारा लोक साहित्य भी समृद्ध है। यह लोक साहित्य हमारी जातीय, सांस्कृतिक एवं साहित्यक समृद्धि की प्रवाहमान धारा का ज्वलन्त प्रमाण है। साथ ही वह हमारी बहुमूल्य राष्ट्रीय सम्पत्ति भी है।"[२] लोक-साहित्य में सामाजिक जीवन के ये तत्व आज भी पाये जाते हैं।

●●●

१. 'धीरे बहो गंगा'—देवेन्द्र सत्यार्थी—पृ० १७५

२. हमारा लोक साहित्य—डॉ०भगीरथ मिश्र—'स्वतन्त्र भारत'—१५ अगस्त १९५६।